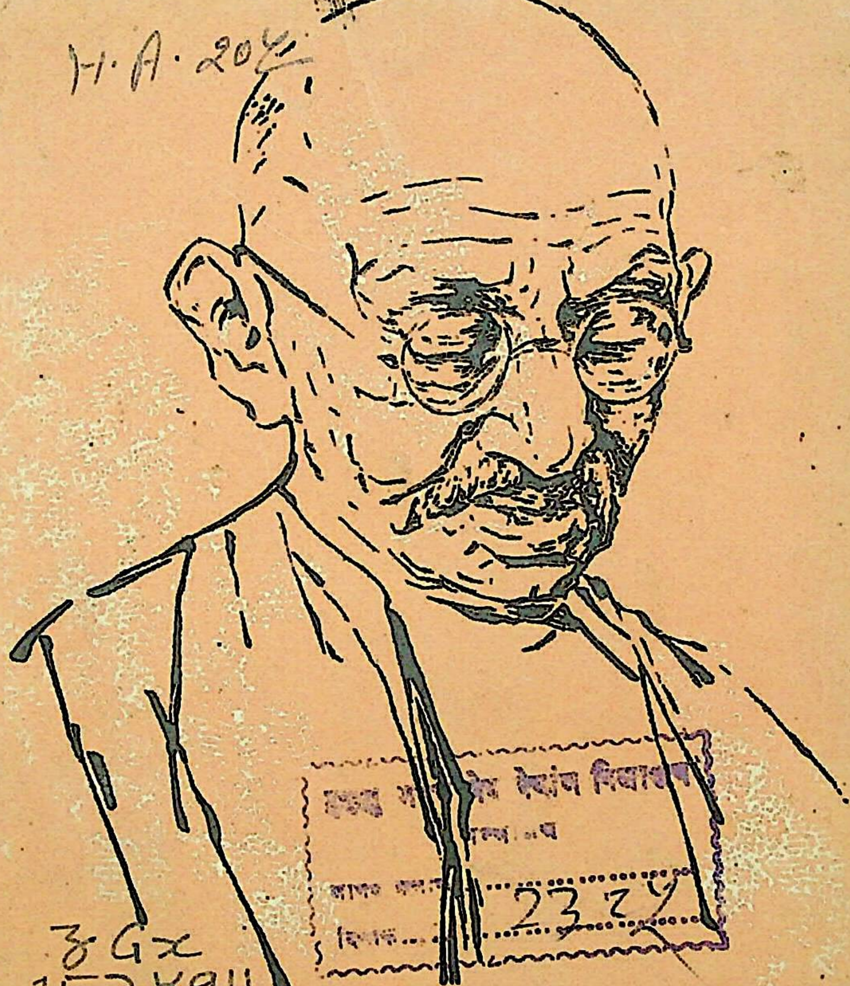


मेरे हृदयदेव

हरिभाऊ उपाध्याय



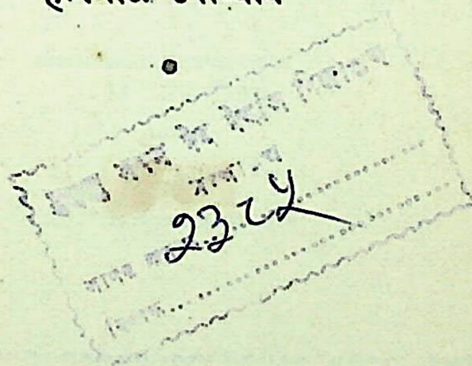
कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

सत्साहित्य प्रकाशन

मेरे हृदय-देव

महात्मा गांधी के हृदय-स्पर्शी संस्मरण और प्रेरक विचार-मंथन

हरिभाऊ उपाध्याय



१६६६

सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य-मंडल
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९६९
मूल्य
रु० ४.५०

मुद्रक
न्यू एरा आफसेट प्रिंटर्स
दिल्ली

९२२

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में लेखक द्वारा समय-समय पर लिखी गई गांधीजी विषयक रचनाओं का संग्रह है। विद्वान् लेखक को न केवल गांधीजी के निकट रहने का अवसर मिला था, अपितु उन्हें गांधी-विचारधारा को निकट से समझने और तदनुसार कार्य करने का भी अवसर मिला था। यही कारण है कि प्रत्येक रचना में पाठक लेखक की गहरी हार्दिकता एवं आत्मीयता का स्पर्श अनुभव करेंगे।

कुछ रचनाएं भावांजलि के रूप में हैं, कुछ में गांधीजी के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। और कुछ में उनकी विचार-धारा की सार्वभौम और सार्वकालिक उपयोगिता बताई गई है।

अंत की कुछ रचनाओं में उन्होंने स्पष्ट किया है कि गांधीजी का सबसे उत्तम और उपयुक्त स्मारक क्या हो सकता है।

परिशिष्ट में दो वार्ताएं दी गई हैं। एक में बापू के कुछ ग्रंथों की समालोचना है, दूसरे में कछ पत्र हैं और तीसरे में कुछ स्वरचित कविताएं हैं।

पूरी पुस्तक की सामग्री यद्यपि एक भावुक व्यक्ति की लेखनी से लिखी गई है, तथापि उसमें गांधीजी के महान् व्यक्तित्व तथा लोकोपयोगी कृतत्व पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

हर्ष की बात है कि पुस्तक गांधी-जयंती के पुण्य पर्व पर, २ अक्तूबर को निकल रही है। हमें विश्वास है कि इसे सभी वर्गों के पाठक चाव से पढ़ेंगे।

—मंत्री

यह पुस्तक क्यों ?

बापू को गये १८ साल हो गए। अपने जीवन-काल में उन्होंने जिन मूल्यों की स्थापना या पुष्टि की थी, यद्यपि वे कुछ ओझल-से होते हुए दिखाई देते हैं, फिर भी उनकी याद तो सदैव आती ही रहती है। जब चीन ने एकाएक हमारे सीमा-क्षेत्र में छापा मार दिया, तब तो उनका अभाव बहुत ही खटका। यदि बापू होते तो हमारे पंडितजी को—जवाहरलाल-जी को बड़ा सहारा रहता। फिर भी बापू के उपदेश रास्ता बता ही रहे हैं। उन्होंने हमें निर्भयता का, साहस का, आत्मविश्वास का और आत्म-निर्भरता का पाठ पढ़ाया। उन्होंने हमें सत्य पर डटे रहने और प्रतिपक्षी, विरोधी, या आक्रामक के अन्याय-अत्याचार का डटकर मुकाबला करने की सदैव शिक्षा दी। उन्होंने कहा—तुम व्यक्ति को बुरा मत समझो, उसके कुकार्यों को बुरा समझो, उसका विरोध करो। व्यक्ति के प्रति स्नेह-सहानुभूति, उसके दुष्कार्यों के प्रति तिरस्कार, और विरोध। इसे उन्होंने अहिंसा कहा था। चीन के मामले में हमारे राष्ट्र-नेता जवाहरलाल ने दोनों बातों को निभाया।

पहले सत्य को लें। हमने सहीतौर पर जिस सीमा-रेखा को भारत की माना उसपर वह डटे रहे। उसपर विचार-विनिमय, बातचीत करने को सदैव तैयार रहे, परन्तु शस्त्र और फौज की धमकी से डरकर नहीं। शस्त्रास्त्र और फौज की धमकी यदि है तो उसका क़सकर मुकाबला किया जायगा—और हर कीमत पर जवाब दिया जायगा। उससे डरकर या दबकर समझौते की या सुलह की बातचीत करना सत्य की, सत्याग्रह की, शिक्षा के विपरीत होगा। जवाहरलालजी और उनके नेतृत्व में सारे भारत ने इसको सही माना और इसपर प्राणपण से डटा रहा। यह सत्या-ग्रही तरीका है।

'अहिंसा' को पंडितजी ने अपने ढंग से खूब निबाहा। एक भी शब्द

उन्होंने कभी न ऐसा कहा, न लिखा, जो चीन के नेताओं—सर्वश्री माओ और चाऊ के सम्मान को गिरानेवाला हो। अलबत्ते भारत में—दूसरों ने जगह-जगह ही, चीन-नेताओं की कार्य-नीति, धोखे से किये आक्रमण आदि की आलोचना के साथ-साथ वहां के इन दोनों नेताओं की शान में ऐसे शब्द भी कहे, ऐसे भाव भी प्रकट किये, जो न बापू को पसन्द आते, न पंडित जवाहरलालजी को ही पसन्द थे। फिर भी, जनता का जोश एकदम उमड़ पड़ा—धोखे से जो छापा मारा—उससे उसका अन्तस्तर इतना झकझोर उठा कि इतनी मर्यादा रखना उसके काबू के बाहर हो गया। यदि बापू होते तो इसे कड़ाई से रोकते, पंडितजी ने अपना उदाहरण देश के सामने रखकर सन्तोष मान लिया। यह फर्क बापू और पंडितजी दोनों के व्यक्तित्व के विकास की भिन्न-भिन्न स्थितियों को प्रकट करता है। दोनों की साधना का भेद बताता है। परन्तु इस प्रश्न पर विचार करने की, इसको देखने की दृष्टि दोनों की एक थी—इसमें मुझे कोई शक नहीं है।

बापू ने हमें केवल स्वतन्त्र ही नहीं किया—भावी राज्य, समाज-रचना की दिशा भी दिखाई—उसकी दागवेल भी वह डाल गए। वह अधिक जीवित रहते तो सम्भव था, बल्कि निश्चय ही भरोसा होता कि वह हमारा स्पष्ट मार्ग-दर्शन करते। परन्तु अब तो उनकी दिखाई दिशा, उनके लगाये मील के पत्थर ही हमारे काम के हैं। हमें उनसे लाभ उठाना चाहिए। वह कोई हवाई विचारक नहीं थे, जो कहते थे उसे कर दिखाने में विश्वास रखते थे, ऐसा प्रयत्न भी करते थे। इसलिए उनकी बातों को—उनके विचारों को योंही, टालकर, मज़ाक उड़ाकर, नहीं भुलाया जा सकता। 'सत्य', 'अहिंसा' के सैद्धान्तिक पहलू को छोड़ दीजिए, इसपर तो इतना लिखा है और अपने जीवन में इतना कर दिखाया है कि देखने और चलने-वाला चाहिए। जनता भी, सर्वोदय (कांग्रेस की आज की भाषा में—समाजवादी रचना), पंचायती राज, सहकारिता, शिक्षा-विधि, ग्राम-उद्योग आदि कोई व्यावहारिक प्रश्न ऐसा नहीं छोड़ा है, जिसपर उनकी दृष्टि बहुत दूर तक न गई हो और उन्होंने इनपर कुछ-न-कुछ प्रकाश न डाला हो। हम स्वतंत्र रूप से चलने और सोचने के लिए स्वतंत्र हैं। इसपर कोई आपत्ति

नहीं उठाता। पर बापू जो-कुछ कह गए हैं, उसपर मनन और चिन्तन किये बिना, उसका प्रयोग किये बिना, कोई चलना चाहे तो वह अविचारी जरूर कहा जायगा। इसलिए मेरा नम्र निवेदन उन सब राजनैतिक पुरुषों से, समाजवादी सज्जनों से, जो जनतंत्र के हामी हैं और समाजवाद को भारत में वास्तविक रूप में लाना चाहते हैं, वे बापू के ग्रन्थों, लेखों और विचारों को अवश्य पढ़ें और उनके प्रयोग करने का प्रयत्न करें।

'मेरे हृदय-देव' के नाम से जो पुस्तक आज मैं पाठकों को भेंट कर रहा हूं—वह इस सारी आवश्यकता को पूरा कर देगी—यह दावा तो हर्गिज नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो पाठकों को नवजीवन कार्यालय और सस्ता साहित्य मण्डल से प्रकाशित बापू के तथा बापू-संबंधी भिन्न-भिन्न ग्रंथों को पढ़ना चाहिए तथा विनोबा का सर्वोदय साहित्य देखना चाहिए। इस पुस्तक में तो मैंने बापू की महिमा में समय-समय पर जो कुछ गद्य-पद्य रूप में लिखा है, उन सबका संग्रह एक जगह कर दिया है। मुझे भी बापू के चरणों में बैठकर कुछ सीखने का अवसर मिला है, उसके बाद भी उन्हींका बताया मार्ग मुझे श्रेयस्कर और व्यावहारिक मालूम होता है। बारह-पन्द्रह साल के प्रशासन के अनुभव के बाद भी मैं यह कहने का साहस करता हूं कि बापू के पथ को छोड़कर हममें से जो प्रशासन या समाज की रचना या संचालन करना चाहते हैं, वे अंधेरे में ही टटोल रहे हैं। यहां अवसर नहीं है कि मैं इसपर विस्तार से चर्चा करूं। पर मेरी यह धारणा अवश्य है। मैं इस प्रयास को सफल मान लूंगा—यदि इसे पढ़ने के बाद बापू के विचारों और योजनाओं को अधिक जानने की उत्सुकता पाठकों के मन में जाग्रत हो जाय। यदि यह नहीं हुआ तो मुझे इतना निश्चित है कि इसे पढ़कर पाठक बापू की कुछ झलक, कुछ झांकी, कुछ दर्शन पाने का पुण्य अवश्य प्राप्त करेंगे।

—हरिभाऊ उपाध्याय

गांधी-जयंती
१९६५

सूची

मेरे हृदय-देव



: १ :

मेरे हृदय-देव

'मेरे हृदयदेव' ! मेरे यह शब्द ही इस बात को बतलाने के लिए काफी हैं कि पूज्य बापूजी के नज़दीक मैंने अपने लिए क़ौन-सा स्थान तजवीज़ किया है। एक ओर 'अन्ध-श्रद्धा' और दूसरी ओर 'अन्ध-अश्रद्धा' के इस आक्षेप-काल में मेरी स्थिति पर यदि कुछ मित्र आपत्ति करें, मेरे प्रति दया दिखावें, तो आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि ईश्वर, भक्ति, श्रद्धा, धर्म, अध्यात्म आदि प्राचीन शब्दों पर, अपने तपस्वी पूर्वजों के परिश्रम फल पर कटाक्ष करने का, उनका उपहास करने का मार्ग कुछ लोगों ने अपने लिए निष्कंटक मान लिया है। वे यह समझते हैं कि श्रद्धा और बुद्धि की शत्रुता है और अपने को बुद्धिमानों की श्रेणी में मानने के कारण बुद्धि का अपमान या तिरस्कार किये बिना वे श्रद्धावान नहीं हो सकते। मैं बुद्धिमान होने का दावा नहीं कर सकता। मुझे तो 'सेवक' कहलाने में अपना जीवन सार्थक मालूम होता है और जब मैं देखता हूं कि एक ओर स्व० देशबन्धुदास, कार्य-कुशल स्व० लाला लाजपतराय, त्यागमूर्त्ति स्व० मोतीलाल नेहरू, व्यवहार-बुद्धि केलकर जैसे गरम राजनीति-वीर और भारत-भूषण मालवीयजी, माननीय शास्त्रीजी जैसे मधुर और नम्र राजनीति-प्रिय तथा दूसरी ओर कवि-सम्राट रवीन्द्र, विज्ञानाचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे स्वदेशी नर-रत्न और होरस, रोम्यां-रोलां, सनयातसेन, वाल्स, एण्ड्रूज़ आदि की असामान्य देश-

भक्ति, सच्चाई, पवित्रता, तपस्या और माहात्म्य का लोहा मानते हैं और जिह्वा मुक्तकंठ से कहती है कि महात्मा गांधी उन उज्ज्वल आत्माओं में से हैं, जो हज़ारों बरसों में कभी-कभी संसार में अवतीर्ण होती हैं। जब उन्हें आज सारी दुनिया में अनेकांश में उनकी टक्कर का महापुरुष दूसरा नहीं दिखाई देता तब पाठकों को, यदि मुझ-जैसा मामूली प्राणी उन्हें अपने हृदय का देव मान-कर उनकी पूजा करे, उनका अनुयायी होने का प्रयत्न करे, उनके दर्शन से अपनी आत्मा को सजीव, उपदेश से उच्च और सत्संग से पवित्र होती हुई माने, तो क्या आपको इस पर आश्चर्य होगा? और जब मैं अपनी आंखों से देखता हूं कि अनेक वाद-ग्रस्त विषयों और लड़ाइयों में रत रहते हुए भी उस पवित्र आत्मा का आज सारे भूमण्डल में एक भी शत्रु नहीं है; जिसके तनिक ही सहवास और प्रयास से मैंने शराबियों को शराब छोड़ते हुए, व्यभिचारियों को पत्नीव्रत की रक्षा करते हुए, चोरों, डाकुओं और कुचालियों को सज्जन बनते हुए देखा; जिसके प्रोत्साहन से कायरों को वीरता के साथ हँसते हुए, कष्ट-सहन करते हुए देखा है; दुर्व्यसनों में लिप्त, भोगविलास में चूर, धन-यौवन के गुलाम लोगों को धार्मिक और पवित्र होते हुए देखा है; नास्तिकों को आस्तिक, हिंसावादियों को अहिंसा-व्रती, निराशावादियों को आशावादी, फैशनेबल लोगों को सीधा-सादा, रहन-सहन-प्रिय होते देखा है; जिसको मैं मामूली आदमियों में से नेताओं का निर्माण करते हुए देख रहा हूं; विरोधी भावों, मतों और जातियों को एकता के सूत्र में बांधते हुए—उनका सामंजस्य करते हुए देखता हूं; एक गिरी हुई जाति को मनुष्यत्व के पद पर ऊंची उठाते हुए देखता हूं, मैं उसकी मूर्त्ति को अपने हृदय में रखूं

सो कौन-सी बुराई है? जब मैं देखता हूं कि वह वीर की तरह अन्यायों, अत्याचारों और पापों तथा उनके हिमायतियों से खम ठोंककर जी-जान से लड़ता है और आप हमको लड़ाता है और दूसरी ओर एक माता की तरह उन अज्ञ, अज्ञान, रोगी भाइयों पर प्रेम की वर्षा करता है, हमें प्रेम का पाठ पढ़ाता है और सेवा के पारितोषिक-रूप जालिमों के जेलखानों को पवित्र बनाता हुआ दो हजार वर्ष पहले ईसा का स्थान प्राप्त करता है, तब यदि मैं उसे भावी सन्तति का राम-कृष्ण मानूं तो क्या-बेजा? बुद्ध और ईसा-मसीह तो लोग उसे आज भी मानने की तैयारी कर रहे हैं।

पूज्य बापूजी मेरे ही हृदय-देव नहीं, सच पूछिये तो करोड़ों भारतवासियों के हृदय-देव हैं। कौन ऐसा भारतीय हृदय है, जहां उनके लिए स्थान नहीं, जिसे उन्होंने अपना घर न समझा हो? भारत की राज्य-लक्ष्मी चली गई, उन्होंने उसे आज़ादी का स्वाद चखाया, स्वराज्य का राज्य-मार्ग दिखाया; भारत फ़ाकेकशी की नुमाइश हो रहा था; उन्होंने उसे खादी पर फ़िदा होने की नसीहत दी। भारत विदेशी सभ्यता का गुलाम होकर भारतीयता की जड़ काट रहा था, अपनी बपौती को पश्चिमी महासागर में डुबो रहा था, उन्होंने उसे स्वाभिमान, स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया, सच्चे स्वदेशी-धर्म की दीक्षा दी। पशुबल के अधीन भारत पशुबल को आदर्श मानकर पशुत्व की ओर कदम बढ़ा रहा था, उन्होंने अहिंसा के उपदेश के द्वारा उसे मानव-बल देकर उसे मनुष्यता की ओर फेरा। भारत नास्तिकता के रंग से रंगा हुआ निराशा के मूर्च्छा-विष को पी रहा था, उन्होंने धर्म की महिमा की प्रतिष्ठा कर आशावाद का सन्देश

उसे सुनाया। भारत को आपसी फूट, भेदभाव और अस्पृश्यता के रोगों से मुक्त होने की रसायन दी। भारत भय, असत्य, कायरता का शिकार हो रहा था, उन्होंने उसे निर्भयता, सत्य और वीरता के शस्त्रास्त्र प्रदान किये।

१९२२

: २ :

प्रथम दर्शन

सन १९१६ के दिसम्बर की बात है। लखनऊ कुछ दिनों तक राष्ट्र-भक्तों के लिए तीर्थस्थान हो गया था। कांग्रेस के निमित्त देश के सब दलों के नेता एकत्र हुए थे। मैंने अपने जीवन में पहली बार उस दृश्य को देखा था। उन दिनों मुझे कोई स्वर्ग में भी ले जाना चाहता तो मैं इन्कार कर देता। बरसों के बाद लोकमान्य तिलक कांग्रेस में पधारे थे। दर्शन करनेवालों की भीषण भीड़ से परमेश्वर ही उनकी रक्षा करता था। लोकमान्य देश के, और मेरे भी, हृदय-सम्राट थे। उनके चरणस्पर्श करके मैंने अपना जीवन सार्थक किया। वह पवित्र स्मृति आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

महात्मा गांधी उन दिनों कर्मवीर गांधी कहलाते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह ने देश का ध्यान उनकी ओर खींच दिया था। भारत की सेवा करने के इरादे से वह यहां आ चुके थे। उनके दर्शन की लालसा से मैंने कई जगह धक्के खाये और जहां सुनता कि फलां जगह गांधीजी आनेवाले हैं, वहीं दौड़ा जाता। कई मील दौड़-धूप करने के बाद आखिर दूर हिंदू-सभा के मण्डप में उनके दर्शन हुए। उनके प्रथम दर्शन ने ही मेरा हृदय खींच लिया। नाटा कद, दुबला शरीर, सीधा-सादा दिखाई देनेवाला चेहरा, तेजस्वी आंखें मेरे नेत्रों में सदा के लिए खिच गईं। सिर पर काठियावाड़ी सफेद साफ़ा या पगड़ी, बदन में

अंगरखा, कन्धे पर दुपट्टा, कमर में धोती और नंगे पांववाली यह साधु-मूर्त्ति आज भी मेरी आंखों में नाचा करती है। हिंदू-सभा में, और वाद में कांग्रेस के अधिवेशन में जो उनके दस-पांच चुने हुए वाक्य मेरे कानों में पड़े और जिस गम्भीरता और शान्ति के साथ उनके मुंह से प्रकट हुए, उससे उनके आत्म-तेज और आत्मविश्वास का सिक्का मेरे हृदय पर जम गया। तव से 'लोकमान्य' के साथ-साथ 'कर्मवीर' ने भी मेरे हृदय के एक कोने पर अधिकार कर लिया।

इसके वाद ही महात्माजी ने चम्पारन में अपने काम का श्रीगणेश किया। भारत के राष्ट्रीय इतिहास में शायद पहली ही बार एक भारतीय वीर ने सरकारी आज्ञा का सविनय निरादर किया और सरकार को अपनी आज्ञा वापस लेनी पड़ी। निलहे गोरों के अत्याचारों से विहार की प्रजा को वचाने के उद्देश्य से महात्माजी के प्रयत्न के फल-स्वरूप कमीशन की स्थापना हो चुकी थी और महात्माजी किसी ज़रूरी काम से पंजाव मेल द्वारा दिल्ली होते हुए गुजरात जा रहे थे। मैं जुही-कानपुर में रहता था, खवर पाते ही स्टेशन पर दौड़ा गया। सेकंड क्लास के एक दरवाज़े के ऊपर एक नंगे सिर और नंगे पैरवाली मूर्त्ति को देखा। वदन पर एक मोटा कुरता, कमर में मोटी-छोटी धोती। उस समय उनके चेहरे पर जो निश्चय और तपस्या का तेज दिखाई दिया, वही दर्शकों के लिए चम्पारन के उज्ज्वल भविष्य का पर्याप्त सूचक था। फिर शब्दों द्वारा जव उन्होंने अपना कठोर निश्चय प्रकट किया कि या तो निलहों के अत्याचारों से प्रजा की रक्षा होगी या ये हड्डियां चम्पारन में रह जायंगी, तव तो मेरी आंखों में आंसू भर आये। इतने निर्भय और निःशंक

वचन अपने कानों से सुनने का मेरा वह पहला ही अवसर था।

कुछ ही देर में टिकट-कलेक्टर टिकट देखने आया। गांधी-जी ने अपने कुरते की जेब में हाथ डाला। लटकती हुई जेब सूत की एक महीन डोरी से बंधी हुई थी। यही शायद उनका 'मनी-बैग' था। उसमें से जब उन्होंने टिकट निकालकर दिया तब टिकटबाबू भी एक देहाती आदमी को सेकंड क्लास में सवार देख उनका मुंह ताकने लगा। दर्शकों के चेहरे विस्मय और सादगी के प्रभाव से खिल उठे।

इस प्रकार लखनऊ में 'कर्मवीर' के नाम से प्रसिद्ध और कानपुर में प्रत्यक्ष 'दृढ़व्रत' गांधी के दर्शन करके हृदय ने मन-ही-मन अपनी श्रद्धा की पुष्पांजलि उनके चरणों पर चढ़ाई।

१९१८ की फरवरी में इन्दौर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का आठवां अधिवेशन होनेवाला था। मालवा मेरी जन्मभूमि और हिंदी मेरी मातृ-भाषा। महात्माजी के पुनर्दर्शन की अभि-लाषा और सुयोग। मेरे घर में सम्मेलन का आयोजन हो और मैं मेहमान बनकर जाऊं! इस विचार से मुझे मन-ही-मन शर्म मालूम हुआ करती थी। पर कौटुम्बिक तथा दूसरी आपदाओं का पहाड़ मेरे सिर पर खड़ा था। आखिर ठीक समय पर जा पहुंचा। इसीको मैंने अपना बड़ा भाग्य माना। इस बीच महात्मा-जी 'महात्मा गांधी' हो गए थे। खेड़ा ज़िले के सत्याग्रह की ओर सारे देश की आंखें लग रही थीं। वह धीरे-धीरे विविध प्रकार से अपने पराक्रम और पुरुषार्थ का लगातार परिचय देते जाते थे। इधर मैं भी कुछ अंश में सांसारिक विपदाओं और कुछ अंश में राष्ट्र-कर्तव्य की प्रेरणा से कौटुम्बिक कर्तव्यों से धीरे-धीरे उदा-

लीन होता हुआ महात्माजी की ओर अधिकाधिक खिचता जाता था। इन्दौर में मैंने जिस रूप में महात्माजी का दर्शन किया वह मेरे लिए एकदम नवीन था।

महात्माजी खासे क़ैदी बने हुए थे, क़ैदी का-सा वेश पहने हुए थे। उनका यही पहनावा आज भारत का राष्ट्रीय पहनावा हो गया है। चेहरा शरीर की दुर्बलता की गवाही दे रहा था, पर उत्साह और तेज-तर्रारी देखकर लोग दंग रह जाते थे। खेड़ा के सत्याग्रह का काम अधूरा छोड़कर वह इन्दौर आये थे। उनकी बदौलत यह सम्मेलन अजरामर हो गया। सम्मेलन के अधिवेशन, विषय-निर्वाचिनी समिति, सार्वजनिक भाषण तथा इतर कार्यों में दिनरात व्यस्त रहते हुए भी उनके शरीर और दिमाग को थकते हुए किसीने नहीं देखा। विषय-निर्वाचिनी समिति में जब मद्रास प्रान्त में हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में विचार हो रहा था तब मैंने देखा कि महात्माजी की आकलन-शक्ति अद्‌भुत है। थोड़े ही शब्दों और हाव-भाव से मन का आशय समझने में वह बड़े सिद्धहस्त थे। बड़े-बड़े विद्वान कार्यकर्ता और पदवीधर लोग वहां उपस्थित थे। पर ऐसा मालूम होता था कि सब महात्माजी के सामने अपने विचार प्रकट करते हुए झेंपते या सकुचाते थे और महात्माजी मानो किसी अन्तर्यामी की तरह एक दृष्टिपात में उनके हृदय का भाव समझकर नीचे देखने लग जाते थे। उस समय उनकी दृष्टि में जो भेदकता मैंने देखी उसने मुझे उनके महापुरुष होने के विषय में निश्चय करा दिया और अन्तिम दिन उन्होंने जो उपसंहारात्मक भाषण किया, उसने तो सारे उपस्थित जनों का मन हर लिया और प्रायः प्रत्येक के हृदय में उनकी मूर्त्ति की प्रतिष्ठा हो गई।

अब मैं महात्माजी के भाषण आदि बड़े चाव से पढ़ने लगा और उनके कार्यों और गतिविधि का अध्ययन-मंनन भी करने लगा। रौलट-एक्ट के आन्दोलन ने महात्माजी को भारतीय राजनीति के बीच मैदान में लाकर खड़ा कर दिया। लोकमान्य की मृत्यु के बाद तो महात्माजी ही देश के एकमात्र नेता रह गए। लोकमान्य का स्थूल शरीर यद्यपि आज दुनिया में नहीं है तथापि उनकी आत्मा का तेज तो आज भी मुझे महात्माजी की आत्मा में प्रतिबिम्बित दिखाई देता है। अतएव तबसे महात्माजी मेरे लिए दोहरे पूज्य और वन्दनीय हो गए। अमृतसर की महासभा के तिलक-गांधी मतभेद ने और पीछे से कलकत्ता-कांग्रेस के असहयोग प्रस्ताव-सम्बन्धी वाद-विवाद ने 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' तथा 'शठं प्रत्यपि सत्यम्' दोनों सिद्धांतों के तुलनात्मक अध्ययन की ओर मेरा ध्यान खींचा। पहले मैं भी 'हन्ते को हनिए, पाप दोष ना गनिए' के न्याय का क़ायल था, लेकिन विचार, मनन और अध्ययन ने मुझे—

> अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
> जयेत् कदर्यं दानेन सत्येन अनृतं जयेत्॥

की सत्यता, नित्यता, उच्चता, अजेयता और सात्त्विकता का क़ायल कर दिया।

'हिन्दी-नवजीवन' निकालने के सम्बन्ध में जून १९२१ के अन्त में मैं बम्बई गया। महात्माजी और सेठ जमनालालजी बजाज के ही द्वारा उसके सफल होने की आशा थी। इस बार मुझे महात्माजी के जीवन के अध्ययन का प्रत्यक्ष मौक़ा मिला। बम्बई में मैं जिस दिन 'मणि भवन' में दर्शन के लिए गया,

महात्माजी बम्बई के कितने ही नगर-सेठों के साथ विदेशी कपड़े के बहिष्कार के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे। तिलक-स्वराज्य कोष-सम्बन्धी उनकी विजय ने प्रतिपक्षियों को भी चकित कर दिया था। इधर, महात्माजी तो स्वराज्य का किला सर करने के लिए एक के बाद दूसरा कदम धड़ाके से आगे बढ़ा रहे थे, उधर, ऐसे समय, इंग्लैंड से आये हुए एक साहब, एक मेम और एक गुजराती साहब मेरी तरह, महात्माजी के दर्शन के लिए उत्सुक बैठे थे। कोई दो घंटे बाद महात्माजी चर्चा खत्म करके बाहर आये। रात के ९ बज गए थे। शहर के भिन्न-भिन्न विभागों में कोई तीन-चार सभाएं होनेवाली थीं। सबमें महात्माजी को पधारना था। टेलीफोन की घंटी बार-बार आती थी—जवाब मिलता था—अभी काम खत्म करके आते ही हैं। बाहर आते ही महात्माजी ने कुरता और टोपी मांगी। इधर खड़े-ही-खड़े उन 'साहब' से बातें होने लगीं। गुजराती साहब ने कहा—"आपको याद होगा, जब आप लन्दन में बैरिस्टरी का अध्ययन कर रहे थे तब सर मंचरजी भावनगरी के सभापतित्व में आपका एक भाषण हुआ था। उसमें आपने यह प्रतिपादन किया था कि इंग्लैंड में रहनेवाले गुजरातियों को यहां गुजराती में नहीं, अंग्रेजी में ही अपना काम-काज करना चाहिए। उस सभा का मंत्री मैं ही था।" इसपर गांधीजी ने आश्चर्य-भरी आंखों से हँसते हुए उनकी ओर देखा और पूछा—"क्या यह कहा था कि अंग्रेजी में ही कामकाज करना चाहिए?" गुजराती साहब ने निधड़क कह दिया—"जी हां।" फिर गांधीजी ने पूछा, "क्या अंग्रेजी में हीं?" उत्तर मिला "जी हां।" तब महात्माजी ने खिल-खिलाकर हँसते हुए निश्चय के स्वर में कहा—"तो फिर

वह कोई दूसरा गांधी होगा। मैंने तो ज़िन्दगी में किसी गुजराती को यह सलाह नहीं दी कि अपनी भाषा छोड़कर अंग्रेजी में अपना काम-काज करो। हां, एक सभा की वात मुझे खूब याद है। लेकिन उसमें मैंने गुजराती में ही काम-काज करने के लिए कहा था।" सुनते ही गुजराती साहव अपनी भूल समझ गए और लजाते हुए कहा—"जीहां, आप वहुत ठीक कहते हैं। गुजराती की जगह 'अंग्रेजी में' मेरे मुह से वरावर निकलता गया। वड़ी भूल हुई—माफ़ कीजिएगा।"

उस दिन रात को कोई दो वजे तक सभाओं में महात्माजी को भाषण आदि देने पड़े। रोज़ सुबह से रात के १०-११ वजे तक दर्शन करनेवालों, शंका समाधान करनेवालों, सलाह लेनेवालों, प्रचार करनेवालों आदि तरह-तरह के कार्यकर्ताओं का तांता लगा रहता था। सव से वरावर शान्ति और गम्भीरता के साथ महात्माजी वातचीत करते, समझाते और राह वताते। सितम्बर तक वहिष्कार का कार्यक्रम पूरा करने का भार सिर पर था। दिसम्वर तक स्वराज्य स्थापित करने की तैयारी हो रही थी। पर जव-जव मैं दर्शन के लिए गया, उन्हें कभी उदास, उद्विग्न या शंकित-चित्त नहीं देखा। 'यंग-इण्डिया' और 'नवजीवन' की सामग्री वरावर मंगलवार और गुरुवार तक भेज दी जाती थी। अपने लेख और टिप्पणियां महात्माजी खुद लिखते थे। कितनी ही चिट्ठियों के जवाव भी खुद ही देते थे। इस अवसर पर मुझे महात्माजी की कार्यक्षमता, कार्य-तत्परता, व्यवहार-कुशलता और मोहिनी-शक्ति का जो अनुभव हुआ, वह वरावर वढ़ता ही गया। जुलाई के अन्त में महासमिति (अ० भा० कां०) की बैठक वम्वई में हुई। पहली अगस्त को

विदेशी कपड़ों की होली का मंगलाचरण होनेवाला था। युव-राज के स्वागत-बहिष्कार, सितम्बर तक विदेशी कपड़ों का बहिष्कार, ये दो विषय प्रधान-रूप से लोगों की ज़बान पर थे। प्रत्येक प्रान्त के नेता और प्रसिद्ध कार्यकर्ता उपस्थित हुए थे। खादी के पहनावे में पहली महासमिति की बैठक वही थी। स्व० लालाजी से लेकर पं० मोतीलालजी और श्री केलकर तक के सिर पर खादी टोपी और देशवन्धु, विजयराघवाचार्य से ले-कर प्रायः सब छोटों-वड़ों के वदन पर खादी देखकर मेरी आंखों में हर्ष के आंसू छलछला आते। जव मैं वम्वई गया था तो उन दिनों इक्के-दुक्के के सिर पर वहां गांधी-टोपी दिखाई देती थी। पर एक ही महीने में एक अगस्त तक वहां लाखों लोगों के सिर पर खादी टोपी चमकने लगी। जिस दिव्य शक्ति का यह प्रभाव था, उसपर मैं मन-ही-मन मुग्ध और न्यौछावर हुआ जाता था।

महासमिति में जव कोई सदस्य महात्माजी के प्रतिकूल वोलने के लिए खड़ा होता, तव उसकी निर्भयता और साहस को देखकर उनका चेहरा खिल उठता और जव कोई व्यावहारिक दृष्टि को आगे बढ़ाकर उनके तत्त्वज्ञान और आदर्शवाद की वृत्ति पर कटाक्ष करता तव तो वह खिलखिलाकर हँस पड़ते थे। पर जव कोई उनके पक्ष में वोलने के लिए उठता तव मानो संकोच से उनका चेहरा गम्भीर हो जाता। उनकी हँसी मुझे प्रतिपक्षी के हृदय पर कब्ज़ा करनेवाली दिखाई देती। उनकी गम्भीरता में मैं अपनी वहुमति का विश्वास और निश्चय देखता। उनके मौन में मुझे प्रतिपक्षी के प्रति दया-भाव और कभी उसकी भूलों पर उपेक्षा-भाव मालूम होता। उनके प्रत्येक अंग-विक्षेप को मैं

अर्थहीन नहीं पाता था। जब नीची निगाह करके वह विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देने लगते, तब ऐसा मालूम होता मानो तूफ़ानी समुद्र में से कोई होशियार कप्तान अपने बेड़े को सावधानी के साथ, परन्तु निश्चित-रूप से, लक्ष्य की ओर बढ़ाये ले जा रहा है। कभी-कभी कोई बड़े ज़ोर के साथ कटाक्ष-बाण फेंकता, पर वह वहां जाकर फूल हो जाता। शिष्टता, नम्रता और कुशलता के साथ उनके व्यवहार में ऐसी दृढ़ता, दुर्दमनीयता और प्रवल वेग दिखाई देता था कि वह सबको बरबस अपनी दिशा में खींच ले जाता था। वाक्चातुर्य और समय-सूचकता का परिचय उनकी प्रत्येक बात से मिलता था। उनका विनोद भी सारहीन नहीं, बल्कि सूचक और प्रेरक होता था।

अहमदाबाद में जब-जब मैं उनके दर्शन के लिए जाता, तब-तब मैं उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों में देखता—वह कभी नेता, कभी राजनीतिज्ञ, कभी सेनापति, कभी लेखक, कभी सम्पादक, कभी पिता, कभी महात्मा और कभी सूतकार दिखाई देते। उनकी आत्मा में मैं भारत की आत्मा को छिपी हुई देखता। कोपीन-धारी महात्मा मुझे भारतीय किसानों और मज़दूरों के प्रतिनिधि, चरखा कातनेवाले महात्मा, दीन-दुर्बल लोगों के अवलम्ब, पेन्सिल से 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' के लिए लेख लिखनेवाले महात्मा, भारत की संस्कृति के नेता और प्रचारक तथा अपनी जांघ पर से सांप को निकल जाने देनेवाले महात्मा मुझे दया-धर्म के अवतार नज़र आते। मनु और लक्ष्मी के साथ किलोलें करते हुए महात्माजी मुझे वत्सल पिता, और कार्यकर्ताओं को इधर-उधर तैनात करते हुए महात्माजी सेनापति दिखाई देते। किसी शंकाकर्त्ता से भवें चढ़ाकर मुस्कराते हुए हँस-हँस कर

बात करनेवाले महात्माजी मुझे 'गुरुदेव' देख पड़ते और मैं मन-ही-मन कहता :

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

अहमदाबाद की कांग्रेस के समय महात्माजी को जितना निश्चिन्त, प्रसन्न और प्रफुल्ल देखा उतना पहले कभी नहीं देखा था, यद्यपि उस समय की स्थिति ऐसी चित्तवृत्ति के ठीक उलटी दिखाई देती थी। वीरों का यह स्वभाव ही होता है कि जब प्रतिकूल परिस्थिति का सामना करना होता है तब उनके हृदय में अधिक उत्साह और वीरता का संचार हो आता है। इसी तरह साबरमती जेल में भी उन्हें मैंने प्रसन्न और निःशंक देखा।

कुछ लोग महात्माजी को व्यवहार-दृष्टिहीन और एकांगी मानते हैं। पर मेरा यह खयाल है कि जिन्होंने उनके एक ही अंग या पक्ष को देखा है वे और क्या कह सकते हैं? भिन्न-भिन्न विचार, आचार और स्वभाववाले छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े लोगों को एक दिशा में कार्य करने के लिए प्रवृत्त कर देने-वाले और फिर भी किसी के प्रभाव से प्रभावान्वित न होनेवाले व्यक्ति को व्यवहार-दृष्टिहीन कहना धृष्टता है। हां, उनकी व्यवहारकुशलता आदर्शमय है; जिसकी कुशलता ने देश में खुफ़िया पुलिस को बेकार कर दिया, हज़ारों षड्यंत्रकारी लोगों को खुले मैदान काम करने का रास्ता दिखाया, मुसलमानों और हिन्दुओं पर खिलाफ़त की रक्षा और दोनों पर स्वराज्य की प्राप्ति का भार लाकर रख दिया, उसे कौशलहीन कहना मुझे तो अपने अज्ञान का परिचय देना ही मालूम होता है।

महात्माजी के पास मैंने गुप्त अथवा खानगी बात कोई नहीं देखी। उनका दीवानखाना हर वक्त हर शख्स के लिए खुला रहता था। हां, दूसरे की खानगी और गुप्त बातों को वह अवश्य हिफ़ाज़त से रखते थे और यह सर्वथा उचित भी है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि किसीको कोई खानगी बात उनसे करनी होती तो उन्हें दूसरे कमरे में जाकर बात करनी पड़ती। उनके साथ के प्रत्येक व्यक्ति के साथ मैंने उनका व्यवहार ऐसा प्रेममय और निर्दोष देखा कि हरएक को यही मालूम होता कि महात्माजी सबसे अधिक प्रेम मुझपर ही करते हैं। उनका सांसारिक जीवन मुझे जल में कमल की तरह दिखाई देता।

अक्तूबर, १९२२

: ३ :

तूफ़ान में

नवंबर सन् १९२४ की बात है। देशबन्धु दास का 'फ़ारवर्ड' पत्र कलकत्ते से निकला था। उसकी शायद पहली संख्या में कविवर श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'फ्रीडम' नामक कविता प्रकाशित हुई थी। कहते हैं, रविबाबू और देशबन्धु साहित्य और धर्म-क्षेत्र में कुछ समय तक प्रति-स्पर्द्धी रहे। कविता का भाव, 'फ़ारवर्ड' का उपदेश दोनों प्रतिस्पर्द्धियों का विस्मयजनक सम्मेलन, विचारों को उद्दीप्त करने के लिए काफी थे। दिल्ली के समझौते के कारण स्वराज्यदल की हालत नवविवाहित दुलहिन की-सी थी। शुद्धि और संगठन तथा तबलीग़वाले अलग ज़ोर मार रहे थे। ऐसी परिस्थिति में एक मित्र ने 'फ़ारवर्ड' में प्रकाशित 'फ्रीडम' की ओर ध्यान आकर्षित किया। मैंने पढ़कर मित्रों से कहा—"मालूम होता है जब महात्माजी जेल से छूट कर आवेंगे तब उन्हें देश में अनेक विरोधी शक्तियों का सामना करना पड़ेगा। क्या राजनीति, क्या धर्म, क्या संस्कृति; तीनों क्षेत्रों में वह अपना विरोध पावेंगे। राजनैतिक क्षेत्र में स्वराज्य दल का विरोध स्पष्ट है। धार्मिक क्षेत्र में शुद्धि-संगठन और तबलीग़ उनके कार्य को, हिन्दू-मुस्लिम एकता को मटियामेट कर रहे हैं। सांस्कृतिक क्षेत्र में रविबाबू कभी-कभी अपनी निषेधात्मक आवाज़ उठाते रहते हैं। तीनों क्षेत्रों के लोग अपनी-अपनी समझ के अनुसार यह मानते हैं कि महात्माजी के अमुक

कार्यों या विचारों से देश को हानि है। जबतक वे ऐसा मानते हैं तबतक उनका यह कर्त्तव्य ही है कि वे उनका विरोध करें— प्रतिकार करें। बहुत संभव है, जब महात्माजी जेल से निकलें तव उन्हें तीनों शक्तियों का सम्मिलित विरोध दिखाई दे। आर्य-समाजी और सनातनी एक-दूसरे के विरोधी हैं। पर जब-तक वे यह मानते रहेंगे कि महात्माजी ने मुसलमानों को सिर चढ़ा लिया है, तवतक वे महात्माजी की प्रवृत्ति के विरोध में एक हो जायंगे और रहेंगे। कट्टर हिन्दू और कट्टर मुसलमान, हिन्दू पण्डित और मुसलमान मौलवी या उल्मा जवतक यह खास खयाल रखते रहेंगे कि महात्माजी तो दोनों धर्मों को एक बनाकर एक नया ही हिन्दू या मुसलमान धर्म चलाना चाहते हैं, तबतक दोनों आपस में परस्पर विरोधी होते हुए भी एक हो जायंगे। महात्माजी और देशबन्धु का समझौता सांस्कृतिक और राज-नैतिक क्षेत्र के संयुक्त विरोध का सूचक मालूम होता है। महात्मा-जी जेल से छूटते ही अपनी नाव को तूफ़ान में पड़ा पावेंगे।"

जून के दूसरे सप्ताह में एक मित्र ने आकर कहा—"उपाध्यायजी, मैं आपको भविष्यवादी कहूंगा। आपकी यह भविष्यवाणी सच निकली। आज महात्माजी सचमुच तूफ़ान में हैं।" हो सकता है कि इन विचारों में किसी को अनुदारता दिखाई दे। दल-दृष्टि नज़र आवे, किसी के हेतु पर इल्ज़ाम लगाने का प्रयत्न जान पड़े; पर इन सब बातों से यहां मुझे कुछ वास्ता नहीं है। मेरे कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि आज से कई महीने पहले इस तूफ़ान के पूर्व-चिह्न लोगों को दिखाई देते थे। तूफ़ान बीजरूप में था, महात्माजी के छूटने के समय यह तूफ़ान अव्यक्त रूप से वायु-मंडल में लवालव भरा हुआ था। वह भीतर-ही-भीतर

लोगों को परेशान कर रहा था। महात्माजी ने अपने भिन्न-भिन्न वक्तव्यों और लेखों के द्वारा उसका स्फोट करके वायु-मंडल को साफ़ करने का प्रयत्न शुरू किया है। बुखार के कीटाणु जबतक अन्दर दबे रहते हैं, तबतक आमतौर पर लोगों को बुखार का अस्तित्व नहीं दिखाई देता और जब बुखार आ जाता है, तब वे समझते हैं हम बीमार हुए। वास्तव में देखा जाय तो बुखार का ऊपर आ जाना नज़दीकी आरोग्य का चिह्न है। जबतक वह भीतर दबा रहता है, तबतक वह अधिक भयंकर होता है। इस तूफ़ान का भी यह हाल है। जब बुखार १०३-४ डिग्री हो जाता है, तब रोगी गाफ़िल होने लगता है और घर के लोग घबड़ा जाते हैं। पर वैद्य बेखटके दवाओं का प्रयोग करता जाता है। यही हाल महात्माजी का हम देख रहे हैं। आर्य समाजियों और स्वराजियों के तरह-तरह के विरोध, आरोप और कटाक्षों की रिपोर्ट लोग उनके पास ले जाते हैं और वह "अं:, इसमें कुछ नहीं, मैंने जो कुछ लिखा है, बहुत सोच-समझकर और प्रमाण-पूर्वक लिखा है, कोलाहल की चिन्ता नहीं। यह तो जल्द ही शान्त हो जायगा।" सारे देश के अखबार और सभा-समाज चिल्ल-पों मचा रहे हैं और उनके हिसाब से मानो कुछ है ही नहीं। उन्हें इस धुंआधार में भविष्य की उज्ज्वल किरणें आती हुई दिखाई देती हैं। वह शान्त और स्थिरभाव से अपनी नैया को गन्तव्य दिशा की ओर खेते जा रहे हैं। यह तूफ़ान इस बात को साफ़-साफ़ दिखला देगा कि कौन कहां और कितने पानी में है। इसमें असली और नकली, कच्चे और पक्के, अनुकूल और प्रतिकूल का पता लग जायगा। जबतक कोई नेता इन बातों को साफ़-साफ़ न जान ले, तबतक उसके लिए

कुछ भी काम करना असंभव है। चाशनी में उफ़ान मैल को दूर करने के लिए उठाया जाता है। भारतीय गगन-मंडल इन दिनों इतना मेघाच्छन्न हो गया है कि कार्येच्छु लोगों का जीवन मंद होता जाता है। यह आवश्यक था कि या तो जलद-पटल बिखर जायं या बरस कर आकांश-मण्डल को निर्मल कर दें। महात्मा-जी के आ जाने से अब हमें थोड़े ही दिनों में भुवन-भास्कर की चेतनामय किरणों के दिव्य दर्शन की आशा करनी चाहिए।

१९२३

: ४ :

पराजय का वीर

पराजय! तू किस बुरी घड़ी में पैदा हुआ! इतिहास तेरा गर्व नहीं करता, कवि तुझ पर न्योछावर नहीं होते, राजा तेरी ओर आंख उठाकर नहीं देखते, कोश तेरा गुण-गान नहीं करते, विद्वान तुझ पर लट्टू नहीं होते, सर्वसाधारण तुझे हेय दृष्टि से देखते हैं, तुझे पतित-नीच-निकम्मा समझते हैं। दुनिया में कौन ऐसा है, जो तेरा मुंह देखना चाहता हो?

दुनिया समझदारों की वपौती नहीं, उसमें पागल भी हैं, मतवाले भी हैं। दुनिया जय को पूजती है; ये पागल पराजय को पूजते हैं। दुनिया जय-जयकार में मस्त है, ये पराजय के गीत गाते हैं। इतिहास जय को पहचानता है; जय के वीरों को अमर बनाने की कोशिश करता है; ये पगले पराजय को खोजते हैं, पराजय के वीर को अपने हृदय की मूर्त्ति बनाकर उसके चरण चूमते हैं।

संसार क्या है? संसार का विकास क्या है? जय और पराजय, जय का बोलवाला, पराजय का मुंहकाला। जय हमें इतना प्रिय क्यों है? पराजय में इतनी बदबू क्यों आती है? क्या विजय दुनिया के भले के ही लिए होती है, हुई है? क्या पराजय पर अत्याचार, अन्याय नहीं होते? क्या जय अत्याचारी, अभिमानी नहीं होता? क्या पराजय भला, पाप-भीरु, निर्दोष नहीं होता? फिर क्यों हम जय को पूजते हैं और

पराजय से घृणा करते हैं? जय का प्रताप हमारी आंखों को चौंधिया देता है और पराजय की आत्मग्लानि से हम चौंक उठते हैं? जय का उन्माद और पराजय की शालीनता; जय का गरूर और पराजय की नम्रता को उनके असली रूप में हम नहीं देख पाते। जय के हर्षनाद में पराजय की हाय को हम भूल जाते हैं। जय के तेज में मनुष्य की मूलभूत दुर्बलताएं छिप जाती हैं; उसका सच्चा वल, पौरुष, तेज और पराक्रम तो पराजय की मलिनता में ही दमकता है। जय नहीं, पराजय में मनुष्य की सच्ची कसौटी होती है।

दुनिया के 'जय' और 'पराजय' शब्द धोखा देनेवाले हैं, भटकानेवाले हैं। राम ने रावण को मारा। दुनिया ने उन्हें विजयी कहा। विजयादशमी राम के विजय की स्मारक मानी जाती है। पर पागलों का रास्ता दुनिया से जुदा है। यह विजयी राम उन्हें उतना अपना नहीं मालूम होता, जितना सीता को छोड़ देने के बाद वियोगी, व्यथित राम। विजयी नहीं, यह हारा हुआ राम उनका राम है। सिंहासन पर अभिषेक करानेवाले, छत्र-चंवर से मण्डित, हनुमान-सेवित राम उनकी नज़रों में उतने ऊंचे नहीं उठे, जितने सीता की खोज में वन-वन भटकने और रोनेवाले राम।

दुनिया कहती है, रावण को मारकर राम विजयी हुए; ये पागल कहते हैं सीता को खोकर राम पराजित हुए। लोग कहते हैं, राम विजयी वीर हैं; ये दीवाने कहते हैं, वह पराजय के वीर हैं।

दुनिया पाण्डवों को अवतक विजयी मानती चली आ रही है; पर महाभारत के मार्मिक रचयिता ध्वनित करते हैं कि

पाण्डव विजयी होकर भी पराजित रहे। महाभारत का पठन वहीं तक उत्साहप्रद और स्फूर्तिदायक मालूम होता है, जबतक हम पराजित पाण्डवों के साथ वनों में घूमते-फिरते हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों पाण्डव उस पराजय को पराभूत करते जाते हैं, ज्यों-ज्यों वे अपने वनवास और अज्ञातवास से निकलकर अपनी विजय की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारे दिल पर एक भयानक छाया गिरती जाती है। हृदय विषण्ण होता जाता है और वह चाहता है कि क्या ही अच्छा होता, यदि वेदव्यास यहीं कहीं महाभारत को समाप्त कर देते। विजय के बाद अर्जुन हतप्रभ और हतबल हो गए। चोरों से अपने आश्रितों की रक्षा न कर सके; युधिष्ठिर सबके संहार पर दुखी हो हिमालय में गलने चले गए; सारे कौरव, पाण्डव और यादव-वंश का नाश अपनी आंखों से देखकर उदासीन कृष्ण एक व्याध के तीर से तिरोहित हुए—यह जय है या पराजय ? दुनिया इसे जय कहती हो, पागल इस जय को पराजय की पेशबन्दी कहते हैं।

दुनिया ईसा को पराजित मानती थी। वह दीवाना, मतवाला था। उसका एक उद्देश्य था, धुन थी, लगन थी। दुनिया ने उसे सताया, कांटों का ताज पहनाया, अन्त में सूली पर चढ़ा दिया। वह चढ़ गया। उसका चेहरा खिला हुआ था—पर हृदय में एक दर्द था, एक आह थी! दुनिया ने उसके लहूलुहान शव को देखकर कहा—यह गया, मिट गया! पर उस पराजय के पुतले की करुणाभरी चितवन, विशाल मुखमण्डल की दयामयी विषण्ण आभा उसकी विजय की ज्योति छिटका रही थी। हम देखते हैं कि इस तरह पराजित होकर भी आज वह विजयी है।

मीरा को उसके लोग बावली, बहकी हुई और बिगड़ी हुई

मानते थे। उसे डराने को डिविया में सांप भेजा और अन्त को ज़हर का प्याला पिलाया गया। पर पराजय के मानवी-प्रहार बेकार हुए। वह जीती-जागती विजयिनी हुई। दुनिया के पराजय की नाप ग़लत साबित हुई।

और दयानन्द के लिए कल तक क्या शास्त्री लोग 'पराजित-पराजित' नहीं चिल्लाते थे? क्या उसे हराने में, सताने में कोई कसर की गई? ज़हर ने उसके शरीर को भस्म कर दिया, लोगों ने उस समय चाहे समझा भी हो कि दयानन्द खत्म हो गया, पर उसकी भस्म उड़-उड़कर विजय-घोष कर रही थी—'मैं किसी को क़ैद कराने नहीं, दुनिया को मुक्त कराने आया हूं।' हम देखते हैं कि 'धर्म को डुबोनेवाला' वह दयानन्द आज घर-घर में विजयी है।

इसी तरह गांधी आज पराजित है। लोग कहते हैं, गांधी हो लिया। असहयोग का विजयी गांधी अब दुनिया में नहीं है। वह चिल्लाता है, लोग मुंह फेर लेते हैं। वह रोता है, लोग हँस देते हैं। वह कातता है, लोग मुंह बना देते हैं। लोग तिरस्कार करते हैं, उपहास करते हैं, वह खिल-खिलाकर हँसता रहता है। वे कहते हैं, गांधी हार गया, हथियार रख दिए, मैदान से भाग गया। वह अपने पथ पर अटल है, तीर की तरह अपने निशानों पर चला जा रहा है। लोग कहते हैं—वह भूला हुआ है, वह अपनी धुन में मस्त है। लोग विजय को प्रणाम करने के लिए लालायित हैं, वह पराजय का वीर बना हुआ है। लोग विजय के वीर की खोज में हैं। यह पराजय का वीर पराजय में विजय को देख रहा है। लोग उदास हैं, चिढ़े हुए हैं, प्रकृति स्तब्ध है, हवा बंद है। वह वैरागी दूर एक ऊंचे टीले पर अपनी धूनी

रमाये हुए मगन बैठा है। लोग पराजय से भयभीत होकर हताश-से हो रहे हैं। वह दूर विजय की किरणों को आता हुआ देख रहा है; वह जय में भी वीर था, आज पराजय में भी वह वीर चमक रहा है। असहयोग के वीर गांधी ने दुनिया को चकाचौंध में डाल दिया था। लोग कहते थे, गांधी विजयी हुआ ही चाहता है। वह कहता था—नहीं, अभी देर है। विजय इतनी सस्ती नहीं हुआ करती। जय के नारों में गांधी का स्वाभाविक तेज और ओज छिप जाता था। आज पराजय की बौछार और फटकार में वह अपना असली जौहर दिखा रहा है। यों देखा जाय तो आज का यह पराजित गांधी दुनिया की दृष्टि में नगण्य है, दुनिया उस जय के गांधी को पूजती थी; पर ये मुट्ठी-भर दीवाने तो इस पराजय के गांधी पर कुरबान हैं, विजयी गांधी नहीं, प्रतापी गांधी नहीं, साधु गांधी; दीन-दुखियों के लिए रोने और मरनेवाला दुखी, दयामय गांधी उनके हृदय का अधीश्वर है। दुनिया ने जिसे हरा दिया, हारा हुआ कहकर जिसे कोने में फेंक दिया, वही इनका हृदय-देव है, वही इनका तारनहार है। विजयी और प्रतापी गांधी को चाहनेवाले आज दुनिया में चाहे ज्यादा हों, पर वे दिन-दिन कम होते जायंगे और यह सन्त व्यथित गांधी तो प्रकृति के कण-कण में व्याप्त होता हुआ सदा अमर रहेगा और सारी जनता के द्वारा पूजित होगा। दुनिया की नज़र में गांधी विजय के दिनों में जितना चमका था, वास्तव में उससे कहीं अधिक स्वच्छता, तेजस्विता के साथ आज, पराजय के युग में, वह चमक रहा है। विजय के वीर से अधिक शोभायमान आज यह पराजय का वीर है।

सितम्बर, १९२७

: ५ :

अमरता की गोद में

लड़के नाटक का खेल दिखा रहे थे। महात्माजी अपना चर्खा कात रहे थे। मैंने देखा, महात्माजी के चेहरे पर पीलापन छा रहा था। विद्यापीठ से आश्रम को वह इन एक-दो दिनों में दो-तीन बार आते-जाते थे। आश्रम के विद्यार्थियों ने अपने विद्या-मन्दिर के वार्षिकोत्सव का आयोजन किया था। शायद उसी दिन सुबह कुछ देर हो जाने से महात्माजी ने कुछ दौड़कर भी समय पर पहुंचने की कोशिश की थी। सुवह के कार्य-क्रम में कुछ देर तक धूप में भी बैठे रहे। इधर कांग्रेस से लौटने के वाद से दूध लेना बन्द कर दिया था—वादाम और नारियल का दूध बनाकर पीते थे। इस बात का प्रयोग, बुढ़ापे में शुरू कर दिया था कि विना दूध के भी मनुष्य रह सकता है और दूध का गुण देनेवाले दूसरे पदार्थ भी हैं। वह शायद यह समझते हैं कि 'और बातों में तो मैंने अपना सन्देश दे दिया, व्यवहार-विधि भी वहुत-कुछ बता दी, अब एक काम रह जाता है, इसको भी करता जाऊं।' इस लोभ में दूध वन्द कर दिया था, खुराक कम लेते थे, वज़न कम होता जाता था, शरीर दुबला पड़ता जाता था। इधर गुजरात-विद्यापीठ की पुनर्रचना की धुन में मन पर काफी परिश्रम का बोझ पड़ रहा था। फिर आश्रम के उत्सव में आने की दौड़-धूप! उस पीलेपन में इतना इतिहास छिपा हुआ था। जमनालालजी ने भी देखा कि बापू कुछ उदास

मालूम होते हैं। उन्होंने एकाध ऐसी बात छेड़ी, जिससे हँसी आवे। पर महात्माजी हँसे नहीं। थोड़ी ही देर में उन्होंने चर्खा कातना बन्द कर दिया, एक विद्यार्थी तार लपेटने लगा। सब लोगों का ध्यान नाटक की ओर लगा हुआ था। एकाएक मैंने देखा कि महात्माजी मीराबहन के कंधे का सहारा लेकर उठ रहे हैं। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह क्या? मैंने सोचा कि बुढ़ापा है, फिर इधर कमज़ोरी ज़्यादा आ गई है। उठते समय सहारा लेने की ज़रूरत पड़ गई हो। मीराबहन एक ही दो क़दम आगे बढ़ी होंगी कि पैर लटक गए, शरीर का सारा बोझ मीराबहन पर आ गया। जमनालालजी ने मुझे सचेत किया—फ़िट आ गया, पैर सम्हाल लो। मैं झपटा और लटकते हुए पैरों को सहारा दिया। और भाई भी दौड़ पड़े और सबने महात्माजी को हाथों पर सम्हाल रखा। लड़कों का खेल बन्द हो गया— सन्नाटा छा गया। महात्माजी का सारा शरीर पीला पड़ गया। आंखें खिच आईं। इतनी पीली पड़ गईं कि देखकर रुलाई आने लगी। गरदन लटक गई। बहुत-से लोगों ने समझ लिया कि बापू चल बसे। मुझे तो ऐसा मालूम हुआ, सारा ब्रह्माण्ड सूना हो गया। कुछ ही दिन पहले मेरी माताजी का स्वर्गवास हुआ था। अन्त समय उनके शरीर की जो अवस्था हो गई थी, वही चेष्टाएं महात्माजी के शरीर की इस समय दिखाई पड़ीं। एक ही दो दिन पहले महात्माजी ने प्रार्थना के समय प्रवचन करते हुए कहा था—"मरना तो ऐसा कि चर्खा कात रहे हैं, कातते-कातते दम निकल गया। बात कर रहे हैं, बोलते-बोलते सांस छूट गई।" मेरे मन में हुआ, महात्माजी मृत्यु का भी पदार्थ-पाठ दे गए। मौत भी करके दिखा दी। वह एक पुनीत दृश्य

था। शोक, करुणा, उदासीनता, चिन्ता, उद्विग्नता का अजीब मिश्रण लोगों के चेहरे पर छा गया था। कोई देश के भविष्य की चिन्ता में डूब गया था, कोई आश्रम के सोच में पड़ गया था। किसी के सामने खुद अपनी समस्याएं खड़ी हुई थीं। किसी को बापू के मिशन की फ़िक्र थी। मेरे मन में उस समय क्या-क्या भाव उठे, यह लिखना शक्ति के बाहर है। या तो हृदय भाव-शून्य हो गया था, या वे इतनी मात्रा में और इतनी तेज़ी से आते-जाते थे कि उनका स्मरण रहना असम्भव था। मैं तो बड़ी कठिनता से अपनी रुलाई रोके उनके पैरों में सोंठ मलता रहा। इसीको मैंने बड़ा अहोभाग्य माना। जिसे मैंने अपना हृदय-देव बनाया है, ऐसे समय उसकी चरण-सेवा करने का समय मिला—उस महा-अंधकार में यह भाव एक प्रकाश-रेखा-सा मेरे हृदय को आश्वासन दे रहा था। ढाई-तीन मिनट में महात्माजी ने आंखें खोलीं। नज़र सीधी रंग-मंच की ओर गई। कष्टपूर्वक मुरझाये मुख से आवाज निकली—"खेल क्यों बंद कर दिया, उसे जारी करो।" यह शब्द सुनते ही इधर लड़कों का खेल फिर शुरू हुआ, उधर हम लोगों के गये प्राण मानो फिर लौट आये। ब्रह्माण्ड फिर हिलता-डोलता मालूम हुआ। ५-७ मिनट बाद महात्माजी ने पूछा—"मेरा सूत कितना हुआ है, गिना? कितना कम है?" एक ने कहा—"१६ तार कम है।" हुक्म हुआ, "मेरा चर्खा लाओ, शेष तार कातना है।" आसपासवालों के खिले चेहरे फिर मुरझाने लगे। प्राण तो शरीर में अभी लौटे ही नहीं हैं और बैठकर चर्खा कातने का आग्रह! राम, यह कैसा बे-पीर है! जमनालालजी ने बुरा मुंह बनाकर कहा—"बापूजी, अब आज न कातें तो न चलेगा?" उत्तर मिला—"यह कैसे हो सकता

है?" इस समय महात्माजी के चेहरे का भाव मानो कह रहा था—"जमनालालजी, तुम तो ऐसा न कहते?" शंकरलालभाई को तो चर्खा कातने की बात एकबारगी असह्य हो गई। एक तो उनका यह इल्ज़ाम रहा ही करता है कि बापू शरीर की परवाह नहीं करते। फिर ऐसे समय चर्खा कातने का आग्रह इन्हें इतना बुरा लग रहा था मानो बापू हम लोगों की बिलकुल परवाह न करके मौत को जबर्दस्ती बुला रहे हैं। अन्त को चर्खा आया और महात्माजी कातने बैठे। कात रहे थे कि डाक्टर शहर से देखने आये। देखकर बोले—"ये तो भले-चंगे हैं, इन्हें क्या देखूं?" महात्माजी ने हँसकर कहा—"मेरी नहीं, शंकरलाल की दवा करो।"

एक मित्र, जो दूर खड़े अनिमेष नेत्रों से महात्माजी को पी रहे थे, मुस्कराकर बोले—"भाऊजी, आज तो भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों की फिल्में मेरी आंखों के सामने दौड़ रही थीं—बुढ़ऊ, इसी तरह एकाएक चल बसनेवाले हैं।"

लड़कों के नाटक का जो दृश्य खुला तो एक पात्र कह रहा था—"देखो, अभी दो घड़ी के बाद मेरी मृत्यु आनेवाली है, इसलिए धर्म के बारे में जो कुछ पूछना हो, पूछ लो।" मेरे दिल में एक हलका-सा भय दौड़ गया—"ईश्वर यह कैसी भविष्यवाणी!—अतिस्नेहः पाप शंकी।"

वह चित्र मेरी आंखों से हटाये नहीं हटता। अब वह एक सपना-सा मालूम होता है—पर उस दृश्य में कितनी पवित्रता थी, कितना जीवन था! उस मूर्च्छा में और उससे उत्पन्न उद्विग्नता में कितनी पवित्रता थी! मृत्युवत् मूर्च्छा; ज़रा चेतना आते ही खेल शुरू करने की आज्ञा; किंचित थकावट दूर

होते ही चर्खा कातने बैठना—इन बातों के इतिहास में महात्मा-जी के सारे जीवन का रहस्य और माहात्म्य आ जाता है। जब-जब उस भव्य और दिव्यदृश्य का स्मरण हो आता है, तब-तब हृदय के अन्तस्तल से यह आवाज़ उठती है—धन्य है हमारी यह गुलामी ! अमर रहे हमारी यह विपत्ति ! इन्हींकी बदौलत ऐसे पुरुष हमें नसीब होते हैं। यदि ईश्वर कहे कि "लो, मैं तुम्हें आज़ाद कर देता हूं, तुम्हारे सब दुःखों और कष्टों को दूर किये देता हूं, पर इसके बदले में महात्माजी-जैसों का जन्म लेना बन्द कर देना चाहता हूं," तो मैं कहूंगा—"मैं गुलामी से ज़रूर ऊब गया हूं, आज़ादी का ज़रूर भूखा हूं, देश की दुर्दशा मुझे बिच्छू की तरह डस रही है, उसके लिए मुझसे बड़ी-से-बड़ी क़ीमत ले लीजिए—महात्माजी-जैसे तक की आहुति लेना हो तो ले लीजिए, पर उनका आना मत रोकिये। यदि गुलामी, आपत्ति की यातना में ही ऐसों का जन्म होता हो तो मैं आगे बढ़कर उस गुलामी और विपत्ति के चरण चूमूंगा। वह स्वराज्य बेकार है, जिसमें पवित्र विभूति न हो—उसके लिए स्थान न हो; वह पराधीनता, वह नरक, स्वर्ग और अपवर्ग से भी बढ़कर है, जिसमें पवित्र विभूतियों का दर्शन होता हो।"

बुद्धि के उदय के युग की याद दिलानेवाले हमारे मित्र इसे भोली भावुकता कहकर इसपर हँस पड़ेंगे। मुझे इसकी शिकायत नहीं। मैं कह चुका हूं, दीवानों का रास्ता जुदा है—समझदारों का रास्ता जुदा है। समझदारी, ठंडापन, खुदग़र्ज़ी, ग़ैरत और ज़िल्लत से मुझे दीवानों का आत्मार्पण, ऊंचा उठना, उड़ना और कूद पड़ना अधिक गौरवपूर्ण मालूम होता है। बुद्धि की तीव्रता की अपेक्षा हृदय को ऊंचा उठाने का उतना सामर्थ्य

नहीं है, जितना हृदय की निर्मलता में बुद्धि के तीक्ष्ण बनाने का है। हृदय की मलिनता ज्यों-ज्यों कम होती जाती है, त्यों-त्यों बुद्धि की तीव्रता और साथ ही निर्णय की शुद्धता अपने-आप बढ़ती जाती है। पवित्रता की चाह और स्वाधीनता की चाह एक ही वस्तु है। कोरी स्वाधीनता चाहनेवाला दूसरे व्यक्तियों के अंकुश से अपने को छुड़ाना चाहता है; पर पवित्रता का इच्छुक तो अपनी भी बुराइयों और दोषों से अपने को मुक्त कर लेना चाहता है। अतएव, वह बढ़कर और ऊंचे दर्जे का स्वाधीनता-प्रेमी है।

मेरे दूसरे भाई कहेंगे—यह बीसवीं सदी में तुम व्यक्ति-माहात्म्य का क्या गीत गाने लगे ? दुनिया कहां जा रही है, तुम कहां जा रहे हो ?

हां, बात कुछ है उलटी। उस पवित्र दृश्य को पाठकों के सामने उपस्थित करने की आज़ादी मैंने इसलिए नहीं ली कि पाठक महात्माजी को ईश्वर समझ लें, उनकी मूर्त्ति बनाकर, उसका ध्यान और उनके नाम का जप करें—हालांकि हिन्दू-जीवन की वस्तुस्थिति में तो इसे भी एक हद का स्थान है। मेरा कहना यही है कि दुनिया व्यक्तियों की बनी हुई है, व्यक्तियों के लिए है और सिद्धान्तों, आदर्शों की कल्पना हम व्यक्तियों के ही द्वारा कर सकते हैं। व्यक्ति क्या है ? एक जीता-जागता आदर्श और सिद्धान्त ही तो है ? लोग क्यों राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध, महावीर, रामदास, मुहम्मद, गोविन्दसिंह, मार्क्स, लेनिन को याद करते हैं ? क्यों गांधी को याद करना चाहते हैं ? यदि ये कुछ सिद्धान्तों के प्रतिपालक, कुछ आदर्शों के प्रवर्त्तक न होते तो इनकी हड्डी-पसलियों में क्या रखा था ? लोग उनके

शरीर को नहीं मानते हैं, उनके गुणों और कार्य को पूजते हैं, और शरीर इन बातों का साधन होता है, इसलिए जबतक वह है, तबतक उसकी महिमा और प्रतिष्ठा को मिटा देने का सामर्थ्य किसी में नहीं। फिर मैंने तो उस पवित्र प्रसंग का वर्णन इसलिए किया है कि हम—महात्माजी को किसी भी अंश और किसी भी अर्थ में अपने से श्रेष्ठ समझनेवाले—उनके सम्बन्ध में सावधान हो जायं। जो उनसे विशेष अनुराग रखते हैं, जिन्हें उनका जीवनादर्श प्रिय है, जो अपने को उनका अनुयायी मानते हैं, वे अपने कर्तव्य का विशेष रूप से विचार और निश्चय कर लें। अबतक न समझा हो तो अब शीघ्र समझ लें कि महात्माजी क्या चाहते हैं और क्या कर रहे हैं। देश के नवयुवक और विद्यार्थी कम-से-कम उनके जीवन से तो वाक़िफ हो लें। यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि जर्मनी, आस्ट्रिया और फ्रांस के विद्वान महात्माजी पर बढ़िया विवेचनात्मक पुस्तकें लिखें और भारतवर्ष के स्कूल-कालेजों में पढ़नेवाले हज़ारों विद्यार्थी उनके मर्म तक को समझने की फुरसत न पावें! अस्तु!

जिन्हें पहचानने की बुद्धि और भविष्य को देखनेवाली आंखें हैं, वे तो आज भी देख सकते हैं कि महात्माजी भारत के ही मन, वचन, कर्म में नहीं, बल्कि दुनिया के भी इतिहास में क्या उलट-फेर कर रहे हैं, फिर भी अधिकांश लोग तो उन बातों को स्पष्ट रूप से तभी समझ पायंगे, जब आज का भविष्य अपने को वर्तमान के रूप में सामने लावेगा। यह बात मानकर चलने में कोई बुराई नहीं है कि महात्माजी का शरीर अधिक दिनों तक उनकी आत्मा का साथ न दे सकेगा। यह हम इसलिए न

मानें कि हम उनके जीवन से निराश हो चुके हैं, बल्कि इसलिए मानें कि मृत्यु प्रकृति का एक नियम है और जागरूक मनुष्य को सदा उसके लिए तैयार रहना चाहिए और न हम मृत्यु की बातों और चर्चा को अमंगल या भयजनक ही समझें। मृत्यु शरीर की एक मीठी चिरनिद्रा है। मृत्यु जीवन के विकास की एक अवस्था है। शरीर का विकास मर्यादित है; वह प्रकृति के—पंचमहाभूतों के—नियमों से बंधा हुआ है। आत्मा का विकास अमर्याद है और प्रकृति की पहुंच के परे होना ही उसका अन्तिम लक्ष्य है। किसी की आत्मा का विकास जब एक शरीर के विकास की मर्यादा के बाहर जाने लगता है, तब शरीर का छूट जाना अनिवार्य हो जाता है। विकासशील आत्माओं के जीवन में शरीर की जीर्णता और अन्तःस्थिति को हम विशेष रूप से देख सकते हैं। अतएव शरीर का नाश दुःख, भय, या निराशा का कारण न होना चाहिए। महात्माजी के सम्बन्ध में भी शरीर-मोह से हमें किसी प्रकार प्रभावित न होना चाहिए बल्कि मैं तो देखता हूं कि वह तो अमरता की गोद में दिन-दिन आगे बढ़ रहे हैं। हां, जबतक उनका शरीर अपने स्वाभाविक क्रम से छूटने की स्थिति को नहीं पहुंचा था, तबतक उसकी रक्षा और पोषण की चिन्ता उन्हें और हमें सबको होनी चाहिए थी; पर उनके शरीर की वर्तमान जीर्ण-शीर्णता को ध्यान में लाकर हमें अपने-अपने कर्तव्यों में अधिक सावधान और जागरूक अवश्य हो जाना चाहिए।

खुद महात्माजी ने तो अपनी ओर से यह कह दिया है कि मेरे शरीर का खयाल छोड़ दो—असली बात तो स्वराज्य है; (अब उनके निधन के बाद 'स्वराज्य' की जगह 'रामराज्य'

मान लें)। उसकी प्राप्ति में जुट पड़ो और उसके लिए आकाश-पाताल एक कर दो। स्वराज्य का अचूक साधन-मध्यविन्दु है खादी और चर्खा। अतएव स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हमें कम-से-कम इतना अवश्य करना चाहिए :

(१) केवल स्वदेशी वस्त्र ही पहनें और वरतें। उसमें भी जितनी अधिक खादी इस्तेमाल कर सकें, नियम-पूर्वक करें—कम-से-कम हर भारतवासी एक कुरता और टोपी खादी की अवश्य पहनें और वहनें खादी की साड़ी या फिलहाल कंचुकी ही पहनने का व्रत धारण कर लें।

(२) रोज़ नियम-पूर्वक चर्खा या तकली पर सूत कातें। जिन्हें महात्माजी का जीवनादर्श प्रिय है, उन्हें इतनी वातों पर खासतौर पर ध्यान देना चाहिए :

(अ) मन, वचन और कार्य में अधिकाधिक सत्य का अवलम्वन करें।

(व) मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम का व्यवहार करने का यत्न करें।

(स) जीवन के हर अंग में संयम को प्रधानता दें, क्या स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध में, क्या खान-पान और रहन-सहन में, क्या सुख और भोग की सामग्री में—सव जगह संयम से क़ाम लेने की आदत डालें।

(द) अछूतों को लेकर छुआछुत मानना छोड़ दें।

(क) हिन्दुओं और मुसलमानों के वैमनस्य को घटाने में अपनी शक्ति लगावें। कम-से-कम अपनी ओर से उसे वढ़ने न दें।

(ख) नियमनिष्ठ और निर्भय वनने का यत्न करें।

(ग) मरे हुए पशु की ही खाल का चमड़ा इस्तेमाल करें; कटे पशु का नहीं।

(घ) जिन लोगों ने कुछ-न-कुछ काम अपनी तरफ ले रखा है, वे इस उत्साह, भाव और लगन से उसमें जुट पड़ें, मानो महात्माजी को हम अब भी दिखा दें कि आपके न रहने पर हम अपने कामों को और भी जिम्मेदारी और दृढ़ता के साथ करते रहते हैं।

यदि हम इतना कर सकें तो महात्माजी, मर जाने पर भी, सर्वदा हमें अमरता की गोद में दिखाई देंगे और यदि हम कोरे शब्दों से उनकी पूजा करते रहें तो वह हमारे सामने अमर होकर भी अपने को मरे से बदतर समझेंगे। और मैं ज़रूर मानता हूं कि इस पिछली अमरता से पहली मृत्यु हर तरह श्रेयस्कर है। यों तो महापुरुषों का जीवन जैसे चैतन्य का स्रोत और प्रकाश की शिखा होता है, वैसे ही मृत्यु एक स्फूर्ति की बैटरी होती है। जीवित अवस्था में उसकी आत्मा शरीर के क़ैदख़ाने में बन्द रहकर अपना काम करती है; पर मृत्यु के पश्चात वह स्वतंत्र और स्वाधीन होकर फैलती और अपना काम करती है। अतएव, आइये, हम तो चिन्ता और आशंका की घटनाओं को चीरकर अपने काम में आगे बढ़ते चले जावें और इसी बात पर परमात्मा का उपकार मानें कि हम महात्माजी-जैसी विभूति के समय में, उन्हींके देश में, उत्पन्न हुए, रहे, उनके दर्शन किये, उनके लेख पढ़े, उपदेश सुने और स्वराज्य की सेना में—एक छोटे और मामूली क्यों न हों—उनके सिपाही बनने का गौरव प्राप्त किया। और महात्माजी के पुरुषार्थी जीवन को देखकर उनकी-सी विभूति बनने का हौसला रखें। महात्माजी का जीवन क्या

है ? आशा, अमरता और आत्मा का संदेश है। जीवन, जाग्रति, बल और बलिदान का नमूना है। अमरता की गोद ऐसे ही जीवन के लिए सिरजी और ख़ुली है। ओ मनुष्य, तू मृत्यु की भयानकता से न सिहर—उसके अन्दर अमरता की ज्योति जगमगा रही है। तू गा :

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारण मिथ्यात दियो तज, क्योंकर देह धरेंगे ?
राग-द्वेष जग-बन्ध करत हैं, इनको नाश करेंगे।
मर्यो अनन्तकाल ते प्रानी, सो हम काल हरेंगे॥
देह विनाशी हूं अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नासी-नासी हम थिरवासी, चोखे ह्वै निखरेंगे॥

अप्रैल, १९२८

: ६ :

पवित्र दृश्य

विजोलिया के वारे में पूज्य महात्माजी का तार पाते ही मैं बारडोली रवाना हो गया। कोई ९ वर्षों में लगान-सत्याग्रह और स्वराज्य-संग्राम इन दो युगान्तरों के वाद, मैंने बारडोली में प्रवेश किया। रिपवान विंकल की-सी कुछ हालत मेरी हुई। स्वराज्य-आश्रम अब भी खासी 'सैनिक छावनी' दिखाई दिया। इस समय महात्माजी पर दिल्ली की सन्धि-शर्तों के पालन कराने की वड़ी ज़िम्मेदारी थी। उन्हें ज़रा भी फुरसत नहीं मिलती थी। ऐसी दशा में विजोलिया का बोझ भी उनपर रखते हुए मुझे वड़ा संकोच हो रहा था। स्वराज्य-आश्रम में पहुंचते ही मैं उनके चरणों तक पहुंच गया। उनके विश्व-विमोहक हास्य और अमिय दृष्टि ने, जोकि प्रत्येक छोटे-वड़े आगन्तुक के स्वागत के लिए सदा मुक्त रहती, मेरी झिझक और चिन्ता दूर-सी कर दी। दूसरे तमाम आवश्यक कामों को छोड़कर उन्होंने दो वार करके कोई दो घण्टे तक मेरी सारी बातें वड़े ध्यान से सुनीं। महात्माजी का यह स्वभाव है कि चाहे कितने ही ज़रूरी और भारी कामों के बोझ से पिस रहे हों, पर उन्हें यदि किसी तरह यह मालूम हो जाय कि दूसरे को कुछ दुःख है, कोई कठिनाई है और वह उनकी सहायता चाहता है तो फिर उनसे उसकी सहायता किये बिना नहीं रहा जाता। यह उनकी महानता है। परन्तु मैं देखता हूं कि हम लोग उनकी इस प्रकृति का इतना

अधिक फ़ायदा उठाते हैं कि छोटी-छोटी-सी बातों में भी लम्बी-लम्बी चिट्ठियां लिख-लिखकर और उनतक दौड़-दौड़कर उन्हें वहुत तंग करते हैं। इससे एक तो हमारा स्वावलंवन, पुरुषार्थ और आत्मविश्वास नहीं वढ़ता और दूसरे उनका बोझ अकारण वढ़ जाता है। विजोलिया के वीर दुःखी किसानों के प्रति तो उनके मृदुल और दयामय हृदय में सहानुभूति ही हो सकती थी। पिछले १२ वर्ष के संसर्ग में इतना अधिक समय मैंने उनका कभी नहीं लिया था।

× × ×

अपनी वातचीत के बीच में मैंने एक वड़ा ही पवित्र दृश्य देखा, जिससे सत्य और अहिंसा का चमत्कार प्रत्यक्ष होता था। बारडोली के किसानों की कुछ ज़ब्तशुदा ज़मीन के एक खरीदार आये। हाथ जोड़कर कहने लगे—"साहव, हवे तो भूल थई गई। मारे आ जमीन न लेवी जोईती हती, पर हवे तो भूल थई—हुं वगर किमते फ़री आपवा तैयार छुं। हवे मने माफ़ी मलवी जोइए।" जब ये शब्द उनके मुंह से निकल रहे थे तो ऐसा मालूम होता था, मानो उनके दिल पर से कोई पत्थर हट रहा हो। महात्माजी ने वड़े प्रेम से उनकी बात सुनकर गुजरात के प्रसिद्ध 'प्याज-चोर' श्री पंड्या से कहा—"देखो, इनके साथ गांव के लोग अब किसी तरह का दुर्व्यवहार न करें।" विजोलिया के बारे में भी उन्हें इस बात की वड़ी चिन्ता रही कि सत्याग्रही किसान 'बापीदारों' पर ज़्यादती न करें। मैंने उन्हें किसानों की तरफ से शान्ति और धीरज का आश्वासन दिया। अहिंसा का स्वाद और गुण ही यह है कि वह मनुष्य का हृदय वदल देती है।

मनुष्य खुद अपनी कमी और भूल समझने लगता है और अपनी बुराई के लिए पछताता है।

× × ×

मेरे पड़ोस में एक अंग्रेज़ ठहरा था। गांधीयुग में हिंदुस्तानी और खासकर गरीबों के वेश में रहनेवाले बहुतेरे अंग्रेज़ भाई हो गए हैं। खुला वदन, कमर से एक गमछा लपेटे हुए, नंगे पांव एक अंग्रेज़ युवक को स्वराज्य-आश्रम में मेरी आंखों ने जिज्ञासा से देखा। विना मिर्च-मसाले का सादा खाना उसने हिन्दुस्तानी ढंग से खाया। जव परिचय हुआ कि ये फ़ादर एल्विन हैं—पूना के 'क्राइस्ट सेवा-संघ' के प्रधान स्तम्भ हैं तो जिज्ञासा आदर और विस्मय में वदल गई। महात्माजी सत्य और अहिंसा पर जिस कदर ज़ोर देते हैं, अपनी वारीकियों को जिस तरह समझाते हैं और अपने जीवन में जितनी साधना इनकी उन्होंने कर ली है, उसका फल केवल यही नहीं हुआ है कि व्यक्ति अपने आत्म-संशोधन में लगे हुए हैं, बल्कि संस्थाओं और जातियों तक में आत्म-संशोधन की भावना जग रही है। जव से उन्होंने ईसाइयों में पादरियों की स्थिति के सम्बन्ध में अपने क्रान्तिकारी किन्तु सत्य-पूत विचार प्रदर्शित किये हैं, तब से पादरी-समूह में खलवली मच गई है और कितने ही पादरी जो सचमुच ईसा की शुद्ध भावना से प्रेरित होते हैं, महात्माजी के वचनों की सचाई को अनुभव करने लगे हैं। फ़ादर एल्विन इन्हीं ईसा-भक्तों में हैं। उन्होंने एकवार जेल-पीड़ित देशभक्तों की एक सभा में उनसे अपने उन गोरे पुलिस सिपाहियों की तरफ से माफ़ी मांगी थी, जिन्होंने उनपर पिछले स्वराज्य-संग्राम में

लाठियां बरसाई थीं। अंग्रेज़ जाति के दो स्पष्ट नमूने हमारे सामने हैं—एक ओर डण्डा बरसानेवाली पशुता या मदान्धता, और दूसरी ओर सरल हृदय से उसकी माफ़ी मांगनेवाली मनुष्यता और सहृदयता। डंडा अंग्रेज़ जाति को तबाह कर देगा —फ़ादर एल्विन की सचाई, सरलता और मानवता अंग्रेज़ों को ऊंचा उठावेगी और दूसरी जातियों में घृणा की जगह प्रेम का स्थान दिलावेगी। चुनाव अंग्रेज़ों के हाथ में है। परमात्मा उन्हें सही चुनाव करने की प्रेरणा करें।

जून, १९३१

: ७ :

आश्रम का प्रसाद

कलकत्ते से लौटकर 'हिन्दी नवजीवन' के सिलसिले में मुझे साबरमती आश्रम में जाने का लाभ मिला था। बछड़ा जिस प्रकार अपनी माता के पास जानं के लिए दौड़ता है, वैसे ही मेरा हृदय आश्रम के लिए दौड़ता रहता है। जब-जब अपनी दुर्बलताएं यहां की झंझटों से घबरा देती हैं, तब-तब आश्रम की ओर मन दौड़ने लगता है और कहने लगता है कि वहां के शान्त और पवित्र वायुमण्डल को छोड़कर यहां कहां उलझनों में आ फंसा! परन्तु ऐसे समय 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' यह उत्साह-वचन मेरी सहायता के लिए दौड़ पड़ता है। ऐसी अवस्था में जब-जब आश्रम जाने का थोड़ा भी अवसर हाथ लगता है तो मैं माता के स्तन की ओर झपट पड़नेवाले भूखे बालक की तरह झपट पड़ता हूं। कुछ महीनों से सत्याग्रहाश्रम का नाम 'उद्योग-मन्दिर' रख दिया गया है। इसका कारण यह है कि ज्यों-ज्यों महात्माजी और आश्रमवासी आश्रम के व्रतों की सूक्ष्मता का विचार करते गए, त्यों-त्यों उन्हें यह मालूम होता गया कि सूक्ष्म अर्थ में सब व्रतों का सोलहों आना पालन अनेक आश्रमवासियों से नहीं हो रहा है। अतएव उन्होंने 'सत्याग्रहाश्रम' नाम अपने लिए अपनी वर्तमान अवस्था से बहुत ऊंचा समझा और 'उद्योग-मन्दिर' नाम उचित देखा। सुबह ४ बजे से रात के ९ बजे तक १७ घंटे रोज़ अपने काम और

उद्योग का हिसाब देने की तैयारी रखनेवाले आश्रम-वासियों ने 'उद्योग-मन्दिर' अपने लिए अधिक सार्थक देखा और वे महात्माजी की छत्रछाया में और प्रोत्साहन तथा मार्ग-प्रदर्शन में फिर 'सत्याग्रहाश्रम' का नाम धारण करने के योग्य बनने का उद्योग कर रहे हैं। यह उनके सत्यानुराग और नम्रता का अचूक प्रदर्शन है और अबकी मैंने देखा कि 'सत्याग्रहाश्रम' का नाम धारण करके आश्रमवासी जितने ऊंचे नहीं उठे थे, उतने 'उद्योग-मन्दिर' नाम रखकर उठ गए। इस समय उनके जीवन में जो स्वच्छता, गंभीरता, नियम-निष्ठता, सुश्रृंखलता और एक-रागिता दिखाई दी, वह पहले कभी न दिखाई दी थी। आश्रम में महात्माजी भी सुबह-शाम अवसर पाकर अपना हृदय आश्रम-वासियों के सामने उंड़ेला करते हैं। इसमें आश्रमवासियों को अमोल आध्यात्मिक, धार्मिक, व्यावहारिक और राजनैतिक ज्ञान तथा उपदेश मिला करता है। आजकल आश्रम में महात्माजी की एक ही धुन है—आश्रम सब अर्थों में स्वावलम्बी और स्वाधीन हो जाय। इसके लिए वह एक तो इस बात पर ज़ोर देते हैं कि सब लोग स्वेच्छापूर्वक अपने बनाये नियमों और व्रतों का पालन हृदय के पूरे अनुराग और सचाई के साथ करें, और दूसरे प्रबन्ध में किसी प्रकार की कोई त्रुटि न रहने पावे, एवं एक-एक मिनट काम में लगा रहे। इसके लिए वे स्वच्छता, शान्ति और छोटी-छोटी बातों पर पूरा ध्यान देने का बराबर आग्रह करते रहते हैं।

एक रोज़ किसी आश्रमवासी या अतिथि ने आश्रम के रास्ते पर थूक दिया। महात्माजी ने रास्ते पर थूक पड़ा देखा तो उस पर मिट्टी डाल दी और शाम को प्रार्थना-सभा में कहा, "आश्रम में पाखाना-पेशाब का स्थान तो निश्चित ही है; परन्तु

लोग कभी-कभी रास्ते पर थूक देते हैं, या नाक साफ़ कर लेते हैं। यह भी ठीक नहीं। रास्ते के किनारे जहां लोगों के पैर या नज़र न पड़े ऐसी जगह थूकना या नाक साफ करना चाहिए। रास्ते पर यदि कहीं हमें ऐसी गन्दगी दिखाई दे तो हमारा काम है कि उसपर मिट्टी डालकर उसे ऐसी जगह फेंक दें, जहां सहसा किसी का पैर न पड़ता हो। आज मेरा कर्तव्य यही था कि मैं भी उस गन्दगी को वहां से उठाकर फेंक देता, पर एक तो में राह चल रहा था, दूसरे हाथ धोने के लिए पानी पास नहीं था। इसलिए मिट्टी डालकर ही ख़ामोश हो रहा। फिर भी मैं मानता हूं कि अपने कर्तव्य-पालन में मैंने त्रुटि कर दी। हमारा तो काम है कि लोग जहां-जहां विगाड़ करें, हम वहां-वहां सुधार करें। लोग बिगाड़ते चले जायं और हम सुधारते चले जायं। तब जाकर इस देश का उद्धार होगा।"

आश्रम में आजकल एक-दो अपवादों को छोड़कर सब आश्रमवासी स्त्री-पुरुष संयुक्त-भोजनालय में भोजन करते हैं। छोटे-बड़े १७५ के लगभग लोग एक साथ बैठकर भोजन करते हैं। महात्माजी भी सबके साथ ही खाना खाते हैं। इस समय भी वह अपना समय एक मिनट नहीं जाने देते। या तो चिट्ठियां पढ़ते हैं, या किसी को बातचीत का समय दे देते हैं। एक रोज़ तो मैंने उन्हें एक लेख या चिट्ठी लिखाते हुए भी वहां देखा था। एक दिन गुजरात कालेज के हड़ताली विद्यार्थियों के नेता इसी समय उनसे परामर्श कर रहे थे। भोजनालयों में बर्तनों का तथा लोगों की बातचीत का शोर होना स्वाभाविक है। परन्तु महात्माजी की यह कोशिश है कि वहां भी इतनी शान्ति रहे कि लोग लिख सकें और खानगी बातें कर सकें। एक रोज़ अतिथि

लोग ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे। महात्माजी ने प्रार्थना के समय इसका ज़िक्र किया और सुझाया कि कृपया शान्त रहिए। इस आशय की छोटी-छोटी कई तख्तियां भोजनालय में जुदी-जुदी भाषाओं में लिखकर लगा दी जायं। जबतक भोजन के समय इतनी शान्ति न रहेगी कि दूसरे आदमी के किसी काम में ज़रा भी खलल न पहुंचे, तबतक हमारा प्रबन्ध अपूर्ण ही समझना चाहिए। छोटी-छोटी बातों का इतना ध्यान महात्माजी रखते हैं कि बड़ा आश्चर्य होता है और उनके सामने खूब शर्मिन्दा होना पड़ता है। एक-दो दिन अभ्यास न रहने के कारण कुछ अतिथि सुबह चार बजे की प्रार्थना में सम्मिलित न हो पाये। तुरन्त उन्हें मीठा उलहना पहुंच गया। कुछ छोटी लड़कियां अधिक शाक लेकर डरती आंख से महात्माजी की ओर देखती हुई जबर्दस्ती शाक खा रही थीं। झट महात्माजी की नज़र उधर दौड़ गई और परोसनेवालों को प्रेम का उलहना सुनना पड़ा। मेरे साथ में कुछ अतिथि बिना पहले से सूचना दिये आश्रम पहुंच गए। महात्माजी ने पहला प्रश्न यही किया कि व्यवस्थापक को आने की और भोजन की सूचना दी या नहीं,? एक अतिथि बातचीत का समय मांगकर ज़रा पिछड़कर पहुंचे। झट उन्हें शर्मिन्दा किया गया। "मेरी आंखें तो आपको समय पर इधर-उधर खोज रही थीं।" इसी तरह छोटी-छोटी बातों पर पूरा ध्यान रखने की आवश्यकता बताते हुए एक सज्जन से उन्होंने कहा—"हमें हरएक बात की तफ़सील में उतरकर उसे देखना चाहिए। ऊपर-ऊपर देखकर किसी चीज़ को न छोड़ देना चाहिए। छोटी बात समझकर उसकी उपेक्षा न करनी चाहिए। किताबें अपनी जगह रखी हुई हैं या नहीं, एक जगह

की चीज़ दूसरी जगह तो किसी ने नहीं रख दी, बताया काम दूसरे ने ठीक उसी तरह किया है या नहीं, इन बातों में कार्यकर्ता को बड़ी सावधानी और जागरूकता रखनी चाहिए। जो छोटे कामों की उपेक्षा करता है उसके बड़े कार्यों को भी यह त्रुटि बिगाड़ देती है।"

आश्रम में एक घण्टे में कम-से-कम १६० तार सूत कात लेने का नियम रखा गया है। एक दिन महात्माजी ने सूत कातकर सदा की तरह गिननेवाले के भरोसे छोड़ दिया। उस दिन १६० में कुछ तार कम थे। गिननेवाला इसकी सूचना महात्माजी को समय पर देना भूल गया—प्रार्थना में जब महात्माजी का नाम पुकारा गया और १६० में तार कम होने की बात उन्हें मालूम हुई तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। "मेरे नाम पर आज तार कम लिखे जायं, यह मेरे लिए कितनी शर्म की बात है। यह मेरा प्रमाद है। गिननेवाले का दोष नहीं। मुझे अपना काम खुद करना चाहिए था। मैंने उसके भरोसे क्यों छोड़ा।" दूसरे दिन से खुद तार गिनने लगे।

१९२९

: ८ :

निर्मल हृदय की एक बूंद

कुछ दिन पहले डा० सैयद महमूद अजमेर आये थे और यहां के भिन्न-भिन्न विचार रखनेवाले राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं से उन्होंने कांग्रेस-संगठन को मज़बूत बनाने के विषय में बातचीत की थी। उन्हें कार्यकर्ताओं की इस भावना पर बड़ा आनन्द हुआ कि यहां दोनों तरफ़ के लोग यह कहते हैं कि "ओहदा हमें नहीं चाहिए, आप ले लीजिए" जबकि और प्रान्तों में पदों पर कब्ज़ा करने की होड़ लगती है। यहां के राष्ट्रीय सेवकों के लिए सद्भावना यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती है। डा० साहब के चले जाने के बाद कुछ प्रधान कार्यकर्ता इस बात पर परामर्श करने के लिए एकत्र हुए कि हमें आपस के मतभेद को भुलाकर प्रांत में संगठित बल उत्पन्न करना चाहिए। एक ने यह योजना पेश की कि कोरी योजना बना लेने से काम नहीं चलने का, जबतक कि हम एकत्र होकर उसको अमल में लाने का यत्न न करें। इसके लिए यह ज़रूरी है कि हम या तो गई-गुजरी बातों को भुलाकर कोरे कागज पर नये सिरे से लिखना शुरू करें, या गड़े मुर्दों को उखाड़ें और उनका फ़ैसला करें। मुझे यह लिखते हुए बड़ा ही आनन्द होता है कि सबने तुरन्त एक स्वर में इस बात को मान लिया कि गई-गुजरी बातों को दफ़ना दो और आगे चलो। यह इस उत्सुकता की सूचना है कि हमें बहस और झगड़ों से मतलब नहीं, हम तो मिलकर काम करना चाहते हैं।

एक थकी हुई फौज में पुराने घावों को भूलकर नई रचना करने का उत्साह सचमुच ही उसके जीवन और उज्ज्वल भविष्य का लक्ष्य है।

इसके बाद ही जगत की परम-पुण्य विभूति महात्मा गांधी का आगमन अजमेर में हुआ। राजस्थान के पुराने नेता श्रीअर्जुनलालजी सेठी अर्से से राजनैतिक मत-भेदों के कारण एकान्त सेवन कर रहे थे। भला हो उन मित्र का कि जिन्होंने महात्माजी को प्रेरित किया कि वह सेठीजी के घर जावें, जिससे उन्हें (सेठीजी को) प्रतीत हो जाय कि महात्माजी के दिल में उनके लिए पूर्ववत् ही प्रेम है। महात्माजी का हृदय तो स्वच्छ-निर्मल प्रेम का अखण्ड स्रोत ही ठहरा!

उनके सेठीजी के घर पदार्पण करते ही सेठीजी और उनकी धर्मपत्नी अपने-आप को भूल गए—गद्‌गद् हो गए। प्रेम की विह्वलता में उन्हें यह सूझ नहीं पड़ता था कि क्या बोलें और क्या करें। बड़ा ही हृदयस्पर्शी दृश्य था। एक ने कहा, "आज से कांग्रेस अजमेर में मजबूत हो गई। अब कोई उसकी तरफ आंख उठाकर नहीं देख सकता।" दूसरे ने कहा, "आज से हमारा मतभेद खत्म हो गया, अब हम कांग्रेस के लिए अपनी जान दे देंगे।" सेठीजी ने कहा, "मुझे कुछ नहीं कहना है। आप इन बच्चों के सिर पर हाथ रख दीजिए, जिससे वे देश के सच्चे सेवक बनें।"

सेठीजी के हिन्दू-मुसलमान सभी मित्र और साथी मौजूद थे। उस समय की निर्मलता और उसका आनन्द अनुभव करने की ही वस्तु है। महात्माजी के इस कार्य ने सेठीजी और उनके मित्रों को जैसा सुखी, सन्तुष्ट और आनन्दित किया, वैसा न

सैकड़ों दलीलों से किया जा सकता था, न हजारों रुपये खर्च करने से। निर्मल हृदय की एक बूंद जो चमत्कार कर सकती है, वह दूसरी कोई शक्ति नहीं कर सकती।

जुलाई, १९३४

: ९ :

सतयुग की झलक

हिन्दू लोग आमतौर पर यह मानते हैं कि यह कलियुग है। अभी घोर कलिकाल आनेवाला है और फिर सतयुग आने में लाखों वर्षों की देर है। किन्तु न जाने क्यों, जब-जब गांधीजी के संपर्क में आते हैं, ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानो सतयुग की शुरुआत हो गई हो। हाल ही में गांधीजी अजमेर पधारे थे। काशी के स्वामी लालनाथजी की पार्टी पहले ही आ पहुंची थी। ऐसी भी अफवाहें थीं कि पूना से भी कुछ लोग गांधीजी पर हमला करने की फ़िराक में आये हुए हैं। बड़े धड़कते हुए दिल से, प्रार्थनापूर्ण हृदय से, अजमेर ने उनका स्वागत किया। कार्यकर्ता ईश्वर से मना रहे थे कि बापूजी सकुशल यहां से विदा हो जायं। मैंने श्री टक्करबापा और बापूजी से यह हाल कह दिया था। यह भी खबर आई थी कि स्वामी लालनाथ ने अजमेर के दो बदमाशों को इसलिए तैनात किया है कि वे गांधीजी पर पत्थर फेंकें। यह सुनते ही बापूजी ने कहा—"स्वामी लालनाथ के द्वारा ऐसा काम नहीं हो सकता। वह मुझसे कई बार मिले हैं—मैं इस खबर पर विश्वास नहीं कर सकता।" बापू की इस सहज विश्वास-शीलता पर मैं खामोश रहा।

खबर मिलती है कि स्वामी लालनाथ गांधीजी से मिलने आयंगे। स्वामी लालनाथ को एक बार देख लेने की अभिलाषा तो थी ही। इत्तफ़ाक से स्वामी लालनाथ को गांधीजी के कमरे

में ले जाने का काम मेरे हिस्से में आ गया। स्वामीजी का चेहरा मुझे उनके उग्र विरोध का सूचक ही मालूम हुआ। किन्तु जब वह गांधीजी से बातें करने लगे तो मेरा ख़याल उनके बारे में बदलने लगा। गांधीजी के प्रति उनका व्यवहार बहुत आदर-पूर्ण था। सहसा किसी को यह विश्वास नहीं हो सकता था कि दो विरोधी बातचीत कर रहे हैं। लालनाथजी गांधीजी से आग्रह कर रहे थे कि जब आप काशी पधारें तो हम लोगों के स्थान पर ठहरें। हमारे स्वयंसेवक आपका प्रबन्ध और रक्षा करेंगे। गांधीजी कहते थे—"ऐसी योजना मुझे तो प्रिय ही होगी। हम दुनिया को दिखा सकेंगे कि विरुद्ध मत रखते हुए भी हम एक-दूसरे को सहन कर सकते हैं।" इस संवाद में और इस सरल वृत्ति में मुझे सतयुग की झलक दिखाई दी। कहां वे देश, जहां विरोध की आवाज़ तक उठानेवाले को गोली से उड़ा दिया जाता है या देश-निकाला दे दिया जाता है और कहां यह दृश्य कि एक विरोधी दूसरे को अपना मेहमान बनाना चाहता है और दूसरा उनका स्वागत करता है। एक हम हैं कि अपने विरोधी से घृणा करते हैं, उसके पास आने-जानेवालों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें भी विरोधी मान लेते हैं; और एक गांधीजी हैं, जो विरोधी से खुलकर बात करते हैं, अपने प्रिय मित्रों की तरह उसका स्वागत करते हैं और अपने हृदय की विशालता और निर्मलता से उसका विरोध-भाव मिटा देते हैं! इसका एक और नमूना उसी दिन देखने को मिला।

घटना तो अजमेर की कीर्त्ति को बट्टा लगानेवाली है। बारहदरी के सभामंच पर पहुंचने के बाद गांधीजी को पता लगा कि स्वामी लालनाथजी और उनके दल के लोगों को स्वयंसेवकों

तथा जनता ने पीट दिया। लालनाथजी उसी समय बुलाये गए। उनका सिर खून से रंगा हुआ देखकर गांधीजी को जो मर्मवेदना हुई वह उनके भाषण से अच्छी तरह मालूम हो जाती है।

उन्होंने कहा—"पण्डित लालनाथ मेरे बुलाये हुए सभा में आ रहे थे। मैंने उन्हें तथा उनके साथियों को आश्वासन दिया था कि वे सभा में आकर भले ही काले झण्डों का प्रदर्शन करें, पर उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न होगा। ऐसी दशा में जो मारपीट उनके साथ हुई उसका मुझे प्रायश्चित्त करना होगा। जिन्होंने उन्हें मारा है, उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण के कार्य को गहरा धक्का पहुंचाया है। हिंसा से कभी धर्म की रक्षा और वृद्धि नहीं हो सकती।"

इतना कहने के बाद उन्होंने लालनाथजी से भाषण देने के लिए कहा। कुछ लोगों ने उनके भाषण में रुकावटें डालीं—'शेम-शेम' की पुकार लगाई, 'नहीं सुनना चाहते' की आवाज़ उठाई। तब गांधीजी ने उन्हें डांटकर कहा :

"यदि आप लालनाथजी की बात सुनना नहीं चाहते तो इसका अर्थ है कि आप मेरी भी बात सुनना नहीं चाहते। मुझे यदि कहने का अधिकार है कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का कलंक और पाप है तो लालनाथजी को भी अपने मत को सुनाने का अधिकार है। यदि आप मेरी बात सुनते हैं तो आपको लालनाथ-जी की बात सुननी होगी। ऐसा न करना असहिष्णुता है, और असहिष्णुता हिंसा है।"

अन्त में लोगों ने लालनाथजी का भाषण भी सुना।

जुलाई, १९३४

: १० :

उनकी विनोद-प्रियता

पूज्य बापू जहां संत थे, वहां पूर्ण मानव भी थे और इसी रूप में विनोदप्रियता, व्यंग्य-प्रहार व हास्यवृत्ति उनके स्वभाव का अविच्छिन्न अंग थे। स्वयं उन्हींके शब्दों में, "यदि मेरे स्वभाव में विनोद-प्रियता नहीं होती तो मैं बहुत पहले ही आत्महत्या कर चुका होता।"

वह सत्य-शोधक थे, सिद्धान्तों के कठोर पालक थे, अपरिग्रह, सहिष्णुता, परिश्रम व निर्भयता के मूर्त्तिमान स्वरूप थे, पर साथ ही उनका विश्वास था कि जीवन का हर क्षण हँसकर बिताना चाहिए और जीवन में कटुता का आदि से अंत तक बहिष्कार करना चाहिए। इसलिए उनमें कठोर सैद्धान्तिकता और विनोद का अद्‌भुत सामंजस्य था। उन्होंने एक बार कहा भी था, "मेरे मज़ाक में भी हमेशा बड़ा गम्भीर अर्थ रहता है।"

यह गंभीर अर्थ क्या था? बापू का हास्य-विनोद सिद्धान्त के मार्ग पर चलता। उसमें किसी को नीचा दिखाने, चोट पहुंचाने या परेशान करने की भावना नहीं थी—उनका हास्य-विनोद अर्थपूर्ण व मार्गदर्शक होता था।

सिद्धान्त की बात को छोड़ दिया जाय तो बापू छोटे-बड़े किसी से मज़ाक में नहीं चूकते थे। एक दिन एक हठी पत्रकार ने बापू से पूछा कि क्या आप विनोदप्रिय भी हैं?

गांधीजी ने उत्तर दिया, "यदि मैं विनोदप्रिय न होता तो आप जैसे क्रोधी लोगों से कैसे जीत पाता!"

वस्तुतः यही कथन उनके हास्यविनोद का मूलाधार था। बापू का कथन था कि जो हँसता है वह अमृतपान करता है। इस दृष्टि से वे हँसने को कितना अनिवार्य मानते थे, यह श्री नेहरूजी को ४ जनवरी, १९३८ को लिखे गए पत्र से स्पष्ट है। उन्होंने पत्र में नेहरूजी को लिखा था कि सभा में विनोद कायम रखना। छोटी-छोटी बातों पर चिंताग्रस्त, चिढ़े हुए मनुष्य की तरह व्यवहार मत करना, क्योंकि यह तुम्हारे योग्य कर्तव्य नहीं है।

× × ×

वह विलक्षण प्रत्युत्पन्नमति भी थे और हर प्रश्न का इतना अचूक उत्तर देते थे कि उसमें विनोद भी होता और वह उत्तर प्रश्नकर्त्ता को मौन कर देता। सरदार पटेल के अक्सर उनसे मधुर तर्क चलते थे, और प्रायः सरदार पटेल की ज़ोरदार हँसी के साथ ही उनकी समाप्ति होती थी। इन दोनों के मध्य कैसे प्रश्नोत्तर चलते इसका एक उदाहरण है। एक बार पटेल ने गांधीजी के खाने के लिए खजूर भिगोये। गांधीजी रोज़ ६ खजूर लेते थे। सरदार उस दिन पीछे पड़ गए और बोले कि आज एक खजूर ज़्यादा सही। गांधीजी के मना करने पर बोले, "पर ६-७ में अन्तर क्या है ?" गांधीजी बोले, "तो ५ ही लीजिये, क्योंकि ५-६ में क्या अन्तर है ?"

सुप्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार लुई फिशर भी बापू के व्यंग्य-बाण के शिकार हुए थे। वह डील-डौल में लम्बे-चौड़े थे। जब वह बापू से मिलने गांधी आश्रम पहुंचे, वहां बापू ने उन्हें भोजन के समय छोटे चम्मच के बजाय बड़ा चमचा थमा दिया। बृहत्काय फिशर को चकित देखकर गांधीजी ने तुरन्त स्पष्टी-

करण दिया—"अरे भाई, यह तुम्हारे आकार के लिए अधिक सुविधाजनक रहेगा।"

× × ×

एक बार जब एक चित्रकार ने उनका रेखाचित्र बनाकर उनके पास हस्ताक्षर के लिए भेजा था तो बापू ने हस्ताक्षर तो कर दिए, पर साथ में एक प्रश्न भी जड़ दिया, कि "यह कौन बदसूरत आदमी है, जिसे तुमने ग़लती से अपने चित्र का आधार बना लिया है ?"

कभी-कभी तो बापू विनोद में मानो बालक बन जाते और अपने विनोद का आनन्द महसूस कर प्रसन्न होते। जब वह वर्धा में थे तो पत्रों के प्रतिनिधि समाचारों के लिए उनके पास चक्कर लगाया करते थे। रोज़ाना पत्रों में उनके सम्बन्ध में समाचार छपते और पत्र-प्रतिनिधि सुबह से शाम तक आश्रम के चक्कर काटकर समाचारों की ताक-झांक में रहते। एक बार एक पत्रकार समाचार न मिलने से बहुत परेशान हो गया तो उसने फोन करके गांधीजी से छापने के लिए कुछ समाचार मांगे। गांधीजी ने हँसते हुए कहा, "छाप दो कि आज आश्रम में अमुक-अमुक सब्ज़ियां बनी हैं, और यह भी छाप दो कि आज ४।। बजे वर्षा होगी।" दूसरे दिन सचमुच यह समाचार छपा, जिसकी काफी चर्चा रही।

गांधीजी जिस समय 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दिनों में पूना-स्थित आगा खां महल में बंदी थे, उस समय एक बार श्रीमती सरोजिनी नायडू ने उन्हें बैडमिंटन खेलने की चुनौती दी। गांधीजी फौरन तैयार हो गए और बल्ला नचाते हुए बोले, "हालांकि मैंने बैडमिंटन कभी नहीं खेला, लेकिन मैं तुम्हें हराकर

रहूंगा।" बैडमिंटन का मैच शुरू हुआ। श्रीमती नायडू दाएं हाथ में चोट लगी होने के कारण बाएं हाथ से खेल रही थीं। गांधीजी खेल से अनभिज्ञ थे, अतः वह भी सरोजिनी नायडू का अनुकरण कर बाएं हाथ से खेलने लगे। इस पर श्रीमती नायडू ने कहा, "वाह, आप तो बल्ला पकड़ना भी नहीं जानते, कि बाएं हाथ से खेल रहे हैं।"

गांधीजी ने पूछा, "फिर आप क्यों बाएं हाथ से खेल रही हैं?"

श्रीमती नायडू ने बतलाया कि दाएं हाथ में चोट लगी होने के कारण ही वह बाएं से खेल रही हैं। गांधीजी कब हार माननेवाले थे। तुरन्त बोल पड़े, "मैं किसी स्त्री की कमज़ोरी का नाजायज लाभ नहीं उठाना चाहता, इसीलिए मैं भी बाएं हाथ से खेल रहा हूं।

× × ×

उनके निर्मल हास्य का दिल्ली का वह प्रसंग भी कम दिलचस्प नहीं है—जबकि अन्तर-एशियाई सम्मेलन में आये हुए तिब्बती प्रतिनिधि एक दिन दिल्ली उनसे मिलने आये थे। उन्होंने बापू को अनेक वस्तुएं भेंट में दीं, इनमें बारीक दो पट्टियां भी थीं। बापू ने पूछा कि ये कहां की बनी हैं?

किसी ने कहा, "चीन की।"

बापू ने पूछा, "चीन में बुनी ही गई हैं या सूत भी वहीं कता है?"

जब उत्तर मिला कि सूत भी वहीं कता है तो बापू ने मज़ाक के साथ कहा, "चीन की यह कौनसी लड़की है, जो इतना महीन सूत कातती है? उसे ढूंढ़ना चाहिए। यद्यपि अब मेरी उम्र

शादी की नहीं है, फिर भी इतना महीन सूत कातनेवाली लड़की से तो मैं शादी कर ही लूंगा।"

इस तरह के ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि बापू का हास्य सादगी, निर्मलता और मानवीयता से ओत-प्रोत था। हर कार्य, उपदेश, भाषण, व्यवहार, वार्ता सभी में वह विनोद-प्रवृत्ति को सदा जाग्रत रखते थे और इस तरह अपनी मानवीयता को और भी अधिक स्वाभाविकता के साथ उजागर करते थे। कोई आश्चर्य नहीं कि इसी कारण वह करोड़ों भारतीयों के मन-मस्तिष्क पर छाये हैं। वे जो उनके पास हैं और वे जो उनसे दूर हैं, कोई भी उनके व्यक्तित्व के सर्वव्यापी आलोक से नहीं बच सके हैं। वह महान थे—इसलिए ही नहीं कि उन्होंने महान कार्य किये, बल्कि इसलिए भी कि महान सफलताओं ने भी उन्हें शुष्क महत्ता की ओर प्रेरित नहीं किया। सहजता के कारण ही वह बड़ों से लेकर छोटों तक सभी का हृदय जीत सके। गांधीजी के हास्य में भी यह सहज वृत्ति समाई हुई थी। उनका कथन था कि सार्वजनिक व्यक्ति के लिए हास्य अनिवार्य है, और हास्य व त्याग सेवक के आवश्यक गुण हैं।

: ११ :

श्रद्धा का महत्त्व

एक समय था, जब गांधीजी पर लिखते हुए कलम दौड़ती थी। अब वह स्तब्ध होकर देखने लगती है, उसकी आंखें जो-कुछ पीती हैं, उसका हृदय जो-कुछ अनुभव करता है, वह लिखने से दूषित होता हुआ-सा प्रतीत होता है। डर लगता है कि कहीं यह काठ की लेखनी और यह स्याही उस निर्मल ज्योति को धुंधला न बना दे।

पहले गांधीजी का कुछ वर्णन किया जा सकता था, उनको नापने की हिम्मत की जा सकती थी, परन्तु अब वे दिन-दिन अगाध, अगम्य और अनन्त होते जा रहे हैं। वे अब व्यक्ति नहीं रहे, आत्मा की ज्योति ही बनते जा रहे हैं। अर्जुन की जो दशा अपने भगवान के विराट रूप को देखकर हुई थी, वही गांधीजी के भक्तों की होती हो तो इसमें आश्चर्य नहीं।

यह गांधीजी के शरीर की महिमा नहीं, उनकी आत्मा का प्रताप है। उनकी साधना और तपश्चर्या का फल है। वह जगत से कहता है कि साधना और तपश्चर्या जीवन में क्या चमत्कार कर सकती है और किस वैभव को प्राप्त कर सकती है। गांधी को आप बुद्धि से समझने का यत्न न करें, यद्यपि बुद्धि—सात्त्विक-बुद्धि—उनके पास जाकर तृप्त होकर ही लौट सकती है, उन्हें श्रद्धा के बल से नापें और आत्मा की ज्योति में परखें। बुद्धि की फिर भी एक सीमा होती है, परन्तु श्रद्धा की सीमा आजतक

किसी ने नहीं देखी है। बुद्धि का प्रवेश वहींतक है, जहांतक मनुष्य का दिमाग काम कर सकता है, परन्तु श्रद्धा तो असल में वहां से शुरू होती है जहां कि बुद्धि की सीमा आ जाती है। कई बार अनुभव होता है कि बुद्धि थक गई है, बुद्धि के सामने चारों ओर अन्धेरा-ही-अन्धेरा है, परन्तु श्रद्धा ने एक-बारगी प्रकाश फैलाकर मार्ग को मीलों तक चमका दिया है। हिमालय को हिला डालने की, गंगा को सुखा देने की, पृथ्वी को उलट देने की, बड़ी-बड़ी क्रान्तियां कर डालने की शक्ति श्रद्धा से ही मिलती है। गांधीजी की शक्ति उनकी श्रद्धा का ही दृश्य परिणाम है।

श्रद्धा सत्य की साधना से बढ़ती है और सत्य की सिद्धि में ही उसकी परिसमाप्ति होती है। यदि सत्य के प्रति श्रद्धा और सत्य की साधना गांधीजी में से निकाल ली जाय तो गांधीजी के अन्य गुणों का कितना मूल्य रह जायगा? गांधीजी को जो भौतिक सफलताएं मिली हैं, उनसे चकाचौंध होने की बनिस्बत यदि हम सद्बुद्धि और श्रद्धा से उनके आदर्श का अनुकरण करेंगे तो हम भी निश्चय ही परम सिद्धि को पहुंच सकते हैं। भौतिक सफलताएं आखिर तो हमारे आन्तरिक जगत का ही प्रतिबिम्ब हैं। गांधीजी की व्यावहारिक सफलताओं को हम उनकी आन्तरिक शक्तियों और गुणों की भाषा में समझें; तरकीब, जोड़-तोड़, दौड़-धूप, हल्ला-गुल्ला, धूम-धाम, इनमें गांधीजी के गौरव को ढूंढ़ना अपने-आपको खो देना है। राज-नीतिज्ञ और बुद्धिवादी अपने क्षेत्र में कितने ही महान हों, सम्पूर्ण जीवन के प्रकाश में उनका मूल्य मर्यादित ही रहेगा। हमें पूर्ण छोड़ अंश के पीछे पूर्ण समझने की ग़लती से अपने को बचाना चाहिए। गांधीजी के प्रत्यक्ष जीवन का, राजनैतिक क्षेत्र से

प्राय: अलग हो जाने और बुद्धिवादियों की गिनती में न आने पर भी अक्षुण्ण महत्व भारत में दिखाई देता है। वह हमें बरबस इसी परिणाम पर पहुंचाता है।

दिसम्बर, १९३५

: १२ :

नया जीवन ही मिला

यों तो जब से महात्माजी के दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की खबरें पढ़ता था, तभी से मन पर यह छाप पड़ी थी कि गांधीजी कोई विलक्षण पुरुष हैं और उनकी कार्य-पद्धति भी अद्‌भुत है। परन्तु उनका प्रत्यक्ष दर्शन तो मुझे लखनऊ कांग्रेस में (१९१६ में) ही हुआ। उन दिनों वह धोती, लम्बा अंगरखा व काठियावाड़ी सफेद साफ़ा पहनते थे और नंगे पांव रहते थे। कांग्रेस में उन्होंने कोई राजनैतिक भाषण नहीं दिया था। मुझे जहां तक याद है, कुली-प्रथा को मिटाने के पोलक साहब के प्रस्ताव का समर्थन गांधीजी ने किया था। उन्होंने हिन्दी में बोलना शुरू किया। 'इंग्लिश प्लीज़', 'इंग्लिश प्लीज़' की आवाज़ें आने लगीं। गांधीजी ने बड़े निश्चयात्मक स्वर में कहा, "यदि एक वर्ष में आप समझने लायक हिन्दी नहीं सीख लेंगे तो मेरा भाषण दुबारा आपको अंग्रेज़ी में सुनने को नहीं मिलेगा।" उनके इस भाषण, रहन-सहन तथा व्यवहार के ढंग से ही मैंने भांप लिया कि गांधी दिव्य युगान्तकारी पुरुष हैं।

इन दिनों में लोकमान्य का अनुयायी था। बचपन से ही लोकमान्य के प्रति मन में अगाध श्रद्धा पैदा हो गई थी। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' आदि वचनों का जबतब हवाला दिया करता था—हालांकि तब भी मेरे दिल को यह अटपटा लगता था।

क्रांतिकारी देशभक्तों के बलिदानों ने हृदय पर बड़ा असर डाला था—यद्यपि उनके हत्याकांड आदि प्रकारों से मन पर एक उद्वेग-सा छा जाया करता था। लेकिन ज्योंही गांधीजी के दर्शन हुए और सत्याग्रह के प्रभाव की झलक चम्पारन में दिखाई दी, त्योंही मेरे हृदय ने कह दिया—"यह मेरा इष्टदेव है।" लोकमान्य के प्रति इतनी श्रद्धा-भक्ति होने के कारण मेरे पूज्य चाचाजी थे। वह लोकमान्य के अनन्य भक्त थे और लोकमान्य के 'केसरी' के अलावा 'काल' और 'हिन्दू पंच' नामक मराठी अखबार मंगाया करते थे। ये सब अखबार लोकमान्य के अनुयायी थे। बचपन में मैं इन्हें ही पढ़ा करता था और मेरे चाचाजी इनके लेखों का मर्म मुझे समझाया करते थे। बाद में जब गांधीजी का रंग मुझपर चढ़ने लगा, तब चाचाजी और मेरे बीच 'गांधी बनाम तिलक' अक्सर विवाद का विषय बन जाया करता था। वह गांधीजी की साधुता को तो बहुत सराहते थे, लेकिन कहते थे कि दुनिया के मामलों में अन्त में लोकमान्य का रास्ता ही कामयाब होगा। मगर मेरी धारणा दिन-दिन इसके विपरीत दृढ़ होती गई, यहांतक कि १९२१ में तो मैं खुद महात्माजी के आश्रम; साबरमती में जा पहुंचा।

गांधीजी के सत्य की तेजस्विता, निर्भीकता, दुर्दमनीयता तथा अबाधगतित्व का और अहिंसा की मृदु-मधुरता, हृदयाकर्षणता, शीतल-स्निग्धता, इन परस्पर विरोधी गुणों का और इनके गांधीजी के जीवन में हुए सामंजस्य का मेरे चित्त पर गहरा असर पड़ा। सत्य अपने सत्त्व की रक्षा के लिए और अहिंसा दूसरे के सत्त्व को सुरक्षित रखने के आश्वासन के रूप में मुझे जीवन के लिए बिल्कुल अनिवार्य नियम मालूम हुए।

यह बात मेरे हृदय में पैठ गई। सत्य को पहले बुद्धि ने ग्रहण किया और बाद को वह हृदय तक पहुंचा।

शुरू में गांधीजी का सत्याग्रह तथा दूसरे वे नियम सब मेरी समझ में आ जाते थे, परन्तु 'खादी' नहीं आती थी। मुझे इस विषय पर लिखे उनके लेख या विचार पढ़ने की रुचि ही नहीं होती थी। खादी-सम्बन्धी लेखों को छोड़कर सारा 'यंग इण्डिया' व 'नवजीवन' पढ़ जाया करता था। कहता था, "खादी का क्या वाहियात झगड़ा महात्माजी ने खड़ा कर दिया है।" स्वदेशी का मैं आदी था—१९०६ से ही मैंने स्वदेशी-व्रत ले रखा था, लेकिन न जाने क्यों खादी के प्रति मन में अजीब अरुचि थी। पर जब 'हिन्दी नवजीवन' के लिए खादी-संबंधी लेख मजबूरन पढ़ने पड़े और उनका अनुवाद भी करना पड़ा, तब उसका मर्म हृदय में बैठ गया और अब मैं यह मानता हूं कि संसार को महात्माजी की दो देनें हैं, एक अहिंसा और दूसरी खादी। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हिन्दुस्तान ही नहीं, पारस्परिक झगड़ों के, फिर वे कुटुम्ब के हों, संस्थाओं के हों, समाज के हों, या राष्ट्रों के हों—निपटाने का अहिंसा से बढ़कर कोई सरल, स्थायी मार्ग या तरीका नहीं है, और समाज की विषमता को मिटाने का, परस्पर ईर्ष्या, स्पर्धा, द्वेष और आर्थिक कलह न होने देने का, खादी से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है। इसलिए गांधीजी अब खादी को अहिंसा का चोला या प्रतीक कहने लगे हैं। खादी का अभिप्राय यहां हाथ की बनी चीजों से या उनके सिद्धान्त से है।

उनके व्यक्तिगत गुणों में उनका दृढ़-संकल्प, बालकों-सी सरलता और कार्य-मग्नता का मुझपर विशेष असर पड़ा है।

सबके हृदय जीत लेने का अजीब जादू गांधीजी में है। यह उनकी अहिंसा का चमत्कार है। हर बात की गहराई में जाकर उसके सब पहलुओं की जानकारी हासिल करके तब निचोड़ निकालना या निर्णय करना भी उनका एक बड़ा गुण है, जो उनकी सत्य की साधना का फल है। उससे वे खुद भी धोखे से बचते हैं तथा दूसरों के साथ न तो अन्याय होने का डर रहता है, न ग़लत निर्णय का।

गांधीजी के दिमाग़ को मैंने एक महान राजनीतिज्ञ और तत्त्व-चिन्तक का, हृदय को स्नेहमयी माता का, आत्मा को एक ज़बरदस्त सत्याग्रही या बलिष्ठ साधक का पाया है।

मुझे तो उनसे नया जीवन ही मिला है, हालांकि मुझे अपनी साधना या जीवन की गति-विधि से बिल्कुल संतोष नहीं है। प्रकाश तो मुझे मिल रहा है, पर बल की क़मी महसूस करता हूं। यह विश्वास अवश्य है कि बापू के आशीर्वाद से वह मिलकर रहेगा।-

१९४०

: १३ :

इसका रहस्य क्या है?

संसार में अबतक कोई ऐसा महापुरुष नहीं हुआ, जिसके जीवन-काल में उसे इतना महत्त्व मिला हो जितना महात्मा गांधीजी को मिला है। इसका क्या रहस्य है? मेरी राय में इसका श्रेय उनकी अहिंसा को मिलना चाहिए। आप पूछेंगे, क्या बुद्ध, महावीर, ईसामसीह, अहिंसा-धर्मी नहीं थे? हां थे, लेकिन अहिंसा की धारणा, अहिंसात्मक संगठन तथा कार्यक्रम सबको जोड़ें तो उनसे गांधीजी का नम्बर बढ़ जाता है। बुद्ध की 'अहिंसा' में किसी ने मांस अपने भोजन के लिए पकाया हो और वह भिक्षा में आ जाय तो उसे ग्रहण करने का निषेध नहीं था। गांधीजी की अहिंसा ऐसी अप्रत्यक्ष ज़िम्मेदारी से भी किसी को मुक्त नहीं करती। इस अर्थ में उनकी अहिंसा की धारणा बुद्ध की अहिंसा-धारणा से आगे बढ़ जाती है, अधिक सूक्ष्म और व्यापक है। महावीर जितने स्वयं अहिंसा के साधक या सिद्ध थे, उतने संयोजक नहीं थे। ईसामसीह के जीवन में जितनी अहिंसा की चमक मिलती है, उतना उसका विधान, सगठन, कार्यक्रम नहीं। महात्माजी के जीवन में तीनों बातें बहुत बड़े पैमाने पर मिलती हैं—इसीसे उनका व्यक्तित्व केवल एक संत का, एक सिद्ध का, एक उपदेशक का नहीं रह गया; बल्कि एक महान आध्यात्मिक स्फूर्तिदाता, धार्मिक सुधारक, समाज-व्यवस्थापक और राजनैतिक युग-नेता का व्यक्तित्व बन

गया है। उनकी अहिंसा-साधना ने उसमें सारे जगत के मानवों के लिए एक महान आकर्षण, एक अद्‌भुत मोहिनी, एक विलक्षण सान्त्वना तथा शान्ति का भाव पैदा कर दिया है। संसार में वल के प्रचारक और समर्थक नेता हुए हैं, जिन्होंने अपने शस्त्रास्त्र से वड़ों-वड़ों के मद और गर्व का खण्डन कर डाला है, परन्तु किसी के शरण आने पर भी गौरवान्वित होने के बजाय उलटी अधिक नम्रता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति संसार में गांधी के सिवा शायद ही दूसरा हुआ हो। उनके नजदीक 'विजय' गर्व की वस्तु नहीं, अधिक नम्र वनने का अवसर है। जब कभी भी उन्हें कहीं सफलता मिली है, उन्होंने अधिक नम्रता के साथ ईश्वर की प्रार्थना की है। उन्होंने मनुष्य के शरीर पर नहीं, उसके हृदय पर राज्य स्थापित करने की कोशिश की है। आइये, आज उनकी जयन्ती के अवसर पर हम भी मनुष्यों को वश में करने की नहीं, उनके हृदयों को जीतने की साधना का संकल्प करें।

लेकिन अपनी वर्ष-गांठ के अवसर पर खुद गांधीजी हमसे क्या चाहते हैं? चरखा चलाओ, खादी का प्रचार करो। जब पहले-पहल उन्होंने चरखा और खादी का नाम लिया, लोगों ने उन्हें मूर्ख कहा। आज भारत के वड़े-बड़े बुद्धिशाली नेता खादी के प्रचारक हैं। खादी का मन्त्र देकर गांधीजी ने हिंदुस्तान को ही नहीं, सारी दुनिया को आर्थिक गुलामी और सामाजिक विषमता से छूटने का अचूक उपाय वताया है। मानव-जाति की आज सवसे वड़ी समस्या क्या है? यह इतना भीषण अमानुष-रक्तपात यूरोप की भूमि पर क्यों हो रहा है? अकेले हम धनैश्वर्य के भोगी रहें—इस लिप्सा के कारण। इसने संसार

को 'प्रभु' और 'दास' वर्गों में बांट दिया है। इस विषमता को मिटाने का सामर्थ्य अकेली खादी में है। गांधीजी की खादी एक कोरा कपड़ा नहीं, एक महान सिद्धान्त है, जो अपने प्रभाव और परिणाम में वड़ा क्रांतिकारी है। वह कहता है कि जवतक धन और सत्ता एक केन्द्र में रहेगी, तवतक सच्ची जनसत्ता स्थापित नहीं हो सकती। धन को एक केन्द्र में प्रतिष्ठित करने का नाम है पूजीवाद और सत्ता को एक केन्द्र में स्थित करने का नाम है साम्राज्यवाद। दोनों को मिटाना हो तो धनसत्ता को विकेन्द्रित करना पड़ेगा। यह खादी और ग्रामोद्योग के द्वारा ही हो सकता है, बड़े-बड़े कल-कारखानों से नहीं। भले ही यह वात हमें अटपटी और आज असंभव-सी लगती हो, यदि हम जीवन की ऊपरी चकाचौंध से वचकर उसकी वास्तविक आवश्यकताओं पर विचार करें; उन्हींकी पूर्त्ति के लिए समाज में अर्थ और राज-व्यवस्था की ज़रूरत है, इस वात पर ध्यान रखें तो खादी अर्थात हाथ-काम या गृह-उद्योग का महत्त्व तुरन्त समझ में आ जावेगा।

सारी मानव-जाति को अभी भूल जायं तथा हिन्दुस्तान के हितों और प्रश्नों का ही विचार करें तो खादी आज कांग्रेस-क्षेत्र में, जो कि भारत का और उसकी जनता का वास्तविक प्रतिनिधि-क्षेत्र है, विवादास्पद विषय नहीं रह गया है। किसी-न-किसी कारण से सव खादी की उपयोगिता मानते हैं। अतएव, गांधी-जयन्ती के इस पुण्य पर्व पर 'स्वराज्य' के तमाम पाठकों का यह पुनीत कर्तव्य है कि वे गांधीजी की महान देन 'अहिंसा' का मनन करें और जिस खादी को उन्होंने अहिंसा का प्रतीक वताया है, उसके प्रचार में कोई कसर वाकी न रखें।

सितम्बर, १९४१

सत्य का उपासक

महात्मा गांधी से बढ़कर निडर, साहसी और भयंकर सत्य का उपासक शायद ही कोई संसार में पैदा हुआ हो। सत्य का अर्थ है, जो कुछ दरअसल है उसे वैसा ही देखना, पाना और वैसा ही बताना। अतएव सत्य नग्न, निरावरण, निर्बाध और निःसंग ही हो सकता है। ज़रा भी मिलावट हुई, छिपने-छिपाने की कोशिश हुई, अटकना-अटकाना हुआ, चिपकने और चिपकाने की प्रवृत्ति हुई कि सत्य में, सत्य की साधना में खामी आ गई। सत्य को सूर्य की तरह समझिये। सूर्य जैसे अपने तेज से प्रकाशित और प्रज्ज्वलित रहकर संसार के अनेक कामों, प्रवृत्तियों व सुखादि का कारण बनता है, परन्तु स्वयं निरावरण, निर्बाध और निःसंग रहता है, वैसे ही सत्य और सत्यमय हो जानेवाला व्यक्ति अपने तेज से आप ही जलता, जागता, चलता और चलाता है। मुझे ऐसा लगता है कि गांधीजी अब सत्य की साधना में उस जगह पहुंच गए हैं, जहां अहिंसा का छोर या मिश्रण या अनुपान खत्म होता है और केवल सत्य-ही-सत्य बाकी रह जाता है।

अहिंसा की आवश्यकता मनुष्य या समाज को तबतक और तभी तक है, जबतक उसके सामने जगत और जगत की महत्ता है। दूसरे शब्दों में, जबतक वह अपने को जगत से पृथक मानता है, जबतक हम दो हैं, तबतक हमारा परस्पर सम्बन्ध कैसा रहे,

इसका निर्णय और नियमन करने की जरूरत रहती है। यह निर्णय और नियम अहिंसा है। जब जगत से हम अभेद-भाव अनुभव करने लगते हैं, अर्थात जब व्यक्ति समाजरूप, व्यष्टि समष्टि रूप हो जाता है तो अहिंसा का लोप होकर सत्य की स्थापना हो जाती है।

गांधीजी सत्य की साधना के लिए सत्यरूप हो जाने के लिए पैदा हुए हैं और जी रहे हैं। इस साधना को उन्होंने अहिंसा से शुरू किया और इसकी समाप्ति सत्य में होने जा रही है। सत्य का साधक एकमात्र सत्य को ग्रहण करना और पकड़ रखना चाहता है। उसके अलावा और उससे भिन्न, प्रत्येक वस्तु को वह छोड़ने और देने के लिए तैयार रहता है और ऐसी हिम्मत रखता है। मैं समझता हूं कि गांधीजी में वह साहस और शक्ति है। सत्य के लिए संसार के तमाम कष्टों, रोषों, उपहासों, दुर्वचनों, बदनामियों और भयंकरताओं को प्रसन्नता से सहने का सामर्थ्य मैं गांधीजी में देखता हूं।

सत्य का साधक संसार से निरपेक्ष हो जाता है, वह संसार से अपने लिए किसी बात की चाह नहीं रखता, परन्तु संसार के अभाव-अभियोगों और कष्टों के प्रति उपेक्षा नहीं दिखलाता। गांधीजी की भी अपने लिए अब जगत से कोई चाहना नहीं रह गई है। जगत के तमाम आकर्षण उनके लिए तुच्छ और अनाकर्षक हो गए हैं। परन्तु जगत के दुःखों और कष्टों का ध्यान उन्हें निरन्तर रहता है। संसार से विरक्त होने का अर्थ यह नहीं है कि संसार के दुःखों और कष्टों के प्रति उपेक्षा भाव आने लगे, बल्कि यह है कि संसार के किसी सुख और आकर्षण की हमें चाह न रहे। इस अर्थ में गांधीजी को हम परम विरक्त कह

सकते हैं और ज्यों-ज्यों उनकी यह विरक्ति परिपूर्ण होती जायगी, त्यों-त्यों वह संसार-सेवा के अधिक सत्पात्र बनते जायंगे। गांधीजी की अनेक चेष्टाओं, लक्षणों और प्रवृत्तियों को देखकर मुझे ऐसा लगता है कि उनमें सत्य का अवतार हुआ है और वह पूर्णता की ओर वढ़ रहा है।

गांधीजी के पुण्य जन्म-दिवस पर हमें उनके जीवन से कार्य-बोध लेना हो तो वह यही कि सत्य के सामने सारा संसार तुच्छ है और सबकुछ छोड़कर सत्य को ही पकड़ रखने की इच्छा हममें पैदा हो और ऐसा साहस हमें प्राप्त हो। सत्य की यह उपलब्धि हमें अहिंसा की परिपूर्णता से ही हो सकती है। सत्य की जिस साधना में अहिंसा की उपेक्षा हो, उसमें अवश्य कोई विकार किसी-न किसी रूप में असत्य घुसा या छिपा हुआ होना चाहिए। अहिंसा की परिणत अवस्था का ही नाम सत्य है। जब हम सत्य को पा लेते हैं तो अहिंसा उपेक्षित नहीं, बल्कि अनावश्यक और निरर्थक हो जाती है, यह बात हमें भुला देनी चाहिए।

अक्तूबर, १९४५

: १५ :

ईश्वर के निकट

१

आगे क्या करेंगे !

महात्माजी का यह उपवास पिछले उपवासों की अपेक्षा अधिक शुद्ध, ईश्वरमय था। किसी तप में जब कोई ऐहिक अभिलाषा नहीं रहती, कौन क्या कर रहा है, यह जानने की उत्सुकता नहीं रहती, तब वह शुद्ध, ईश्वर के समोप ले जाने-वाला, कहलाता है। महात्माजी ने एक मित्र से कहा था कि इस उपवास में मुझे जिज्ञासा तक नहीं होती कि लोग क्या कर रहे हैं। जिन लोगों ने दोष किये वे अपने हृदय को टटोलें, उसे बदलें, यही उनका उद्देश्य था। वह इस अंश तक पूरा हुआ कि दिल्ली के प्रतिष्ठित हिन्दू-मुसलमानों-सिखों ने मुसलमानों को शामिल रखने का लिखित आश्वासन दिया। इस उपवास से न केवल गांधीजी पाकिस्तान की ही, बल्कि सारे संसार की दृष्टि में सच्चे साधु, अनासक्त सिद्ध हुए। इससे उनकी संसार में कार्य करने की, भारत व तमाम भूमण्डल को अपना कार्य-क्षेत्र बनाने की शक्ति बहुत बढ़ गई। अब यदि वह पाकिस्तान को जा सकें तो उनकी सफलता का अगला कदम फिलस्तीन व उसके बाद का चीन आदि हो सकते हैं। गांधीजी को फिर १२५ साल जीने की बात याद आने लगी है।

हिन्द को एक बड़ा लाभ यह हुआ है कि सरदार पटेल को

अलग तथा गांधीजी व पं० जवाहरलालजी को दूसरी कोटि में रखकर जो लोग सरदार की आलोचना करते थे या मुसलमानों के खिलाफ़ उन्हें बता के अनर्थ कर व करा रहे थे, उनका भ्रम दूर हो गया। खुद महात्माजी ने कहा कि यह मानना ही भूल है कि सरदार, जवाहरलाल या मैं तीनों अलग-अलग हैं। हम तीनों की भाषा अलग-अलग है, पर मतलब सबका एक ही है। जबतक यह त्रिमूर्त्ति एक है, तभी तक भारत का भाग्य सलामत है।

इस उपवास के बाद लोगों को फिर अहिंसा में आस्था होने लगी। 'प्रेम के जादू' का असर उनपर होने लगा। हिन्दू मुहल्लों में मुसलमानों के स्वागत के दृश्य दिखाई देने लगे। नरक का द्वार बन्द होता व स्वर्ग का खुलता दिखाई देने लगा।

अब सवाल होता है कि गांधीजी आगे क्या करेंगे? क्या पाकिस्तान जायंगे?

२४ जनवरी, १९४८

२

मन्दिर में नहीं—हृदय-मन्दिर में

गांधीजी तो स्वर्ग को चले गए और उन्हें भेजा एक हिन्दू ने अपनी पिस्तौल की गोलियों से! अंग्रेज और मुसलमान जब उन्हें पूज रहे थे, तब एक हिन्दू ने एक 'आदर्श' हिन्दू को दुनिया से मिटा दिया; और उस हत्यारे के साथी और भी कई लोग हैं, शायद कुछ संस्थाएं भी हों। तब तो एक व्यक्ति को क्या कोसें? महात्माजी होते

तो कहते—उन्होंने मुझे दुष्ट समझा, मार डाला। उनके लिए भगवान से प्रार्थना करो—उनका हृदय बदलो। अपनी आत्मा शुद्ध करो। जबतक कोई हमें अपना शत्रु समझता है, तबतक वह हमारी ही कमी का—हमारी अहिंसा-साधना की कमी का—लक्षण है। बापू की यह वाणी हमारी समझ में तो आती है, हमें ऊंचा उठने की ज़बरदस्त प्रेरणा करती है, फिर भी हमारे पांव लड़खड़ाने लगते हैं। बापू, हमें बल दो!

अब क्या करें? रोवें? हताश होकर बैठ जायं? तब तो हम बापू की आत्मा को भी मार डालेंगे। गोडसे ने तो शरीर को मारकर उनकी आत्मा का बंधन तोड़ डाला—उसे अनन्त विश्व में अपना काम करने के लिए मुक्त कर दिया। हम असहिष्णु, प्रतिहिंसक, निराश बनकर, क्या अपने को उनकी आत्मा का हत्यारा सिद्ध करेंगे? बापू ने अपने जीवन में जो चमत्कार दिखाये, उनकी मृत्यु से प्रेरणा पाकर जब हम उससे अधिक चमत्कार दिखावेंगे, तभी उनके सपूत कहलाने के अधिकारी होंगे।

तो हम क्या करें? सब गांधीवादी व गांधी-भक्त सत्य व अहिंसा को अपना ध्रुवतारा बनाकर एक सूत्र में बंध जायं। कांग्रेस उनका जीता-जागता स्मारक बने। 'राम-राज्य' की स्थापना वर्तमान सरकार का लक्ष्य हो। हिन्द को आदर्श राष्ट्र बनाकर पाकिस्तान या दूसरे पड़ोसी राज्यों को यह अनुभव होने दिया जाय कि हिन्द उनका अगुआ है। महात्माजी की मूर्त्ति हम मन्दिरों में, भवनों में नहीं, बल्कि अपने हृदयों में बिठावें और उनके उपदेश हमारी ज़बान से नहीं, बल्कि जीवन के एक-एक कण से ध्वनित हों। हम कितना काम करते हैं, इसका

हिसाब रखने की अपेक्षा कितनी शुद्धता से करते हैं, इसका हिसाब प्रत्येक व्यक्ति रखे। यदि हम ऐसा करेंगे तो हम अनुभव करेंगे कि बापू हमसे दूर नहीं गये, हमारे ही बीच जीते-जागते मौजूद हैं।

३१ जनवरी, १९४८

: १६ :

सच्चा स्मारक

अपनी वीरोचित मृत्यु के वाद महात्माजी भारत के ही नहीं, सारे विश्व के हृदय-सम्राट वन गए। संसार के कोने-कोने से जो हार्दिक श्रद्धांजलियां वरस रही हैं, वे यही सावित करती हैं। ऐसे महापुरुष का समुचित स्मारक वनने या वनाने की भावना किसके मन में उदय न हुई होगी, या होती हो? कई सुझाव अवतक अखवारों में आ चुके हैं। यह स्वाभाविक ही है। परन्तु सोचना यह है कि वह स्मारक क्या हो? कोई भी पार्थिव स्मारक, चाहे वह कितना ही बड़ा हो, क्या उस महात्मा की विभु-सर्वव्यापी आत्मा को व उसके विश्व-व्यापी आदर्श को पहुंच सकता है? वह तो समुद्र या आकाश को घड़े में भरने-जैसा है। अजमेर में एक मित्र ने स्मारक का जिक्र किया तो मेरे मुंह से तुरन्त निकला—वापू का कोई भौतिक स्मारक नहीं हो सकता। वापू ऐसे स्मारकों के खिलाफ थे। अब इतने दिनों के चिन्तन के बाद मेरा यह विचार और भी दृढ़ हुआ है कि मेरी समझ से उनका कोई सच्चा स्मारक हो सकता है तो 'राम-राज्य' की स्थापना ही हो सकता है। हमारी सरकार व हमारी कांग्रेस दोनों—'राम-राज्य' को अपना अन्तिम लक्ष्य घोषित करके उनके स्मारक की नींव डालें। इसके नजदीक पहुंचनेवाला दूसरा स्मारक हो सकता है उनके 'एक विश्व' के संदेश की पूर्त्ति, जो उन्होंने एशियाई सम्मेलन के अवसर पर दिया था। और भी

संकुचित दायरे में रहना चाहें तो कांग्रेस उनका एक स्मारक बन सकता है, बशर्ते कि वह उनके निधन के पहले सुझाये विचारों को अपना ले और तदनुसार अपना संगठन बनावे। मैं समझता हूं कि इससे भिन्न किसी भौतिक स्मारक की कल्पना या योजना करना न तो उनके गौरव के अनुकूल होगा, न उनकी इच्छा के ही। क्या अच्छा हो कि हम किसी भौतिक, लेकिन सस्ते स्मारक की अपेक्षा 'राम-राज्य' की स्थापना-जैसे सच्चे परन्तु कष्ट व व्ययसाध्य ही नहीं, जीवन-साध्य स्मारक को खड़ा करें।

: २ :

बापू का स्मारक बनाने के संबंध में कई सुझाव आये हैं। जो भी भौतिक स्मारक उनका बनाया जायगा वह उनकी महिमा के मुकाबले में कम ही होगा। भौतिक स्मारक बनाना मानो बापू को बहुत छोटे गज से मापना है, या सस्ता सौदा कर लेना है। केवल ब्याज देकर हमें उनसे उऋण हो जाने का प्रयत्न न करना चाहिए, 'देवो भूत्वा देवं यजेत्', उनके सपूत बनना ही उनका सच्चा स्मारक है। उनकी आत्मा की ज्योति अपने अंदर संचार करना, उनके गुणों का अनुकरण करना, उनके अधूरे कार्यक्रम को पूरा करना, उनकी इच्छाओं को मान देना, उनका सपूत बनना है। धन इकट्ठा करना या उनकी मूर्तियां व भवन बना देना कौन कठिन है? धन इकट्ठा किया जाय तो उनके कामों के लिए न कि उनकी मूर्तिपूजा के लिए; कोई स्मारक खड़ा किया जाय तो उनके आदेश, उपदेश, आचार के पालन व प्रचार के लिए, न कि कोरे प्रदर्शन के लिए। अतः हम तो किसी भी भौतिक स्मारक को पसंद नहीं करते। परन्तु

हम जानते हैं कि देश व दुनिया के भावुक भक्तों को सगुण साकार उपासना के विना सन्तोष न होगा। अतः यदि स्मारक-कमेटी कोई ऐसा स्मारक वनाना ही चाहे तो उसका सवसे अधिक निर्दोष रूप शिला या स्तम्भ-स्मारक ही हो सकता है, जिसपर वापू के आदर्श सिद्धान्त, उपदेश व वचन खुदे हों। वे हमारी कला के भी अच्छे नमूने हो सकते हैं। जो पुस्तकों के द्वारा वापू के विचारों का प्रचार निषिद्ध नहीं मानते, उन्हें शिला या स्तम्भों के प्रकार पर भी आपत्ति नहीं हो सकती।

फरवरी, १९४८

: १७ :

सुयोग्य वारिस बनें

महात्माजी की स्तुति उनके जीवन-काल में ही इतनी हो चुकी थी और उनके अवसान के वाद जो उनके स्तुति-स्तोत्रों और लोगों के भक्तिभाव का जो प्रदर्शन तरह-तरह से हुआ, उसमें अव और वृद्धि करना अनावश्यक है। इस विषय में वह अवतक के तमाम महापुरुषों व अवतारों से आगे निकल गए। वह केवल एक संस्था, एक संगठन, एक वल व प्रकाश ही नहीं, अपने-आप में एक युग, वल्कि विश्व थे—जीवन का कोई अंग नहीं, जिसे उन्होंने अपने जादुई स्पर्श से सजीव न कर दिया हो। परन्तु उनके कोरे गुण-गान से हमारा कर्तव्य-भार हल्का नहीं हो सकता। यह तो केवल अर्घ्य-प्रदान हुआ। उनके स्मारक के भिन्न-भिन्न आयोजन करना भी सस्ता छुटकारा ही समझना चाहिए, यद्यपि वे मानव के भक्ति-भाव की पूर्त्ति के आवश्यक-जैसे अंक हैं। प्रश्न यह है कि अव उनके प्रति हमारी श्रद्धा-भक्ति क्या रूप ग्रहण करे? वह ज्ञान, भक्ति व कर्म की त्रिवेणी थे। हमारे देखते-देखते वह नर से नारायण हुए। सदियों के गुलाम एक देश को विना शस्त्रास्त्र के आजाद करा दिया—एक नवीन आदर्श संमाज की दागवेल डाल गए और उसका मार्ग दिखा गए। हमें इस समय अपने कर्तव्य का ठीक-ठीक ज्ञान कराने के लिए, उनके वे स्मृति-चिह्न काफी हैं। इनमें पहली वात है खुद हमारे जीवन का निर्माण,

दूसरी नव-समाज-निर्माण में उसका विनियोग। महात्माजी ऐसा समाज बनाना चाहते थे, जिसमें कोई किसी को दबाने न पावे, सब स्वतंत्र रहकर एक-दूसरे के काम आवें। इसे उन्होंने 'राम-राज्य' कहा है। यह तभी बन सकता है, जब हम अपना जीवन सचाई के साथ व्यतीत करते हुए दूसरे के जीवन को बनाने में उसे लगावें। पहला सत्य की साधना से व दूसरा अहिंसा की साधना से हो सकता है। इसीलिए उन्होंने सत्याग्रह पर—सत्य व अहिंसा की साधना पर—इतना जोर दिया है। सच्चे प्रजातंत्र की नींव व लक्षण अहिंसा ही है। अतः अब से हम अपने जीवन को सत्याग्रह की तराजू पर तौलते रहें। यह बिना सतत-जाग्रति के नहीं हो सकता। इसमें बापू का जागरूक जीवन हमारा पथदर्शक बन सकता है। केवल व्यक्ति या व्यष्टि-रूप में हम महान या आदर्श बन जायं, यह काफी नहीं है। समाज या समष्टि में अपने को मिला देना हमारे जीवन की कृतार्थता है। व्यष्टि समष्टि की इकाई है। समष्टि में समावेशन उसकी परिपूर्णता है—यही मोक्ष है। व्यक्तिगत उन्नति हमारी यात्रा की आधी मंजिल है; समष्टिगत जीवन पूर्ण-साधना या पूरी मंजिल है। महात्माजी ने न केवल अपने जीवन को बनाया, बल्कि उसका एक-एक क्षण देश, समाज, समष्टि के अर्पण किया —इसीमें इन्होंने जीवन की कृतार्थता मानी। यह हमारा दीपस्तम्भ होना चाहिए।

इससे हमारा लक्ष्य स्पष्ट हुआ—हमें उसका ज्ञान हुआ। पर ज्ञान के साथ लगन होनी चाहिए। उसके बिना कार्य में बल नहीं आ सकता, वह सफल नहीं हो सकता। लगन भक्ति से आती है। भाव-शुद्धता का नाम भक्ति है। अपना कोई

स्वार्थ न हो, जो-कुछ किया जाय वह अपने इष्ट के लिए, लक्ष्य के लिए हो—यह भक्ति का मर्म व हार्द है। यदि हम महात्मा-जी के भक्त हैं तो हमारा जीवन—प्रत्येक कार्य—उन्हींके लिए, उन्हींके प्रिय कार्य या लक्ष्य के लिए, होना चाहिए। उसमें अपने व्यक्तिगत सुख-सुविधा का विचार बाधक न होने देना चाहिए।

भक्ति से प्रेरणा व बल तो मिलता है, पर सफलता काम करने से ही होती है। अतः हमारा जीवन सतत कर्ममय होना चाहिए। ऊटपटांग कर्म करने या करते रहने से सफलता नहीं मिलती। उसमें विवेक व दक्षता से काम लेने की जरूरत है। इसमें गांधीजी का जीवन हमारे लिए आदर्श है। वह विवेक व दक्षता की मूर्त्ति थे। उनका सारा जीवन इसका उदाहरण है।

कोरा कर्म नहीं, कार्य-योजना, कार्यक्रम होना जरूरी है। अपने तथा समाज दोनों के जीवन को बनाने का कार्यक्रम होना चाहिए। इसमें उनके बताये खादी व चर्खे का स्थान बहुत ऊंचा है। उन्होंने चर्खे को सूर्य की उपमा दी व दूसरों को नक्षत्रों की; जिन्हें सूर्य के आस-पास भ्रमण करते रहना है। मौन रह-कर नियमित चर्खा कातना—योग-साधना की ही एक क्रिया है, वह यदि 'राम नाम' के नाम के साथ किया जाय तो पूरी आध्यात्मिक साधना हो जाती है। दूसरे तमाम कार्यक्रम भारत के भिन्न-भिन्न अंगों की त्रुटियों को पूरा करते हैं। जीवन के दोष हटा दिये जायं तो जीवन परिपूर्ण ही है। समाज-जीवन के इन गड्ढों को भरने के कार्यों को ही गांधीजी ने रचनात्मक कार्यक्रम कहा है। हम आजाद तो हो गए; परन्तु अभी हमारा भारतीय समाज सम्पूर्ण, सर्वांग-सुन्दर नहीं हुआ है। पहले हमें

भारत में ही 'रामराज्य' का नमूना उपस्थित करना है। ग्राम-पंचायतों की स्थापना से इसकी शुरुआत करनी होगी, जैसा कि कांग्रेस के नवीन विधान में बताया गया है। चर्खा अर्थात विकेन्द्रित उद्योग 'रामराज्य' का साधन और ग्राम-पंचायत का प्राथमिक स्वरूप हुआ। दूसरे शब्दों में चर्खा द्वारा हम आर्थिक स्वतंत्रता या आर्थिक प्रजातंत्र की, स्वयं-पूर्ण ग्राम-पंचायतों द्वारा शासनिक प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते हैं। केवल हाथ उठाकर या पर्ची डालकर वोट दे देने में ही प्रजातंत्र की परिसमाप्ति न हो जानी चाहिए; व्यक्ति व समाज के समूचे जीवन में प्रजातंत्र का संचार होना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब सम्पत्ति व सत्ता दोनों का ही विकेन्द्रीकरण हो।

जबतक बापू थे, तबतक तो हम दौड़-दौड़कर उनके पास पथदर्शन के लिए चले जाते थे। अब तो उनके उपदेश, आचरण व गुण ही हमारे पथदर्शन का काम देंगे। इस दृष्टि से उनके विस्तृत जीवन-चरित्र का संग्रह, मनन व उनके गुणों का सतत अनुशीलन बहुत आवश्यक हो गया है। यही अब उनके प्रतिनिधि हमारे लिए रह गए हैं। शरीर तो आज या कल जाता ही; परन्तु उनका जीवन-चरित्र अमर है। उनके शरीर से कहीं अधिक व्यापक क्षेत्र में उसकी गति है। अतः इस अमूल्य निधि के सुयोग्य वारिस बनने का हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए। जबतक हम ऐसा करते रहेंगे, तबतक बापू हमारे अन्दर व हमारे बीच में अमर ही रहेंगे।

: १८ :

गांधीवादी इलाज

वापूजी की हत्या गोडसे ने की, सारी दुनिंया ने उसे बुरा कहा। फिर भी सुनते हैं कि गोडसे को इसपर कोई पश्चात्ताप नहीं है। हो सकता है कि गोडसे एक गलत आदर्श और गलत मनोवृत्ति का शिकार हुआ हो। जबतक मनुष्य किसी उचित या अनुचित उच्च आदर्श से प्रेरित न हो, तबतक वह ऐसा जघन्य कार्य नहीं कर सकता। इधर-उधर ऐसी गलत भावनाओं को उभाड़ा भी गया था, जिससे लोग ऐसे मनुष्य को ऐसे कुकृत्यों के लिए प्रोत्साहन दें। निश्चय ही गोडसे की इस कुकृति के पीछे कुछ लोगों की एक विचारधारा का, और एक मनोवृत्ति का बल है, जो गांधीजी की विचारधारा और मनोवृत्ति के प्रतिकूल है। गोडसे और उसके साथियों पर मुकदमा चल रहा है। उसके कुछ साथी भाग गए हैं। सरकारी कानून के मुताबिक जिनके खिलाफ जुर्म साबित होगा, उन्हें सजा दी जायगी। सवाल यह है कि हम लोगों को, जो गांधीजी के रास्ते चलना चाहते हैं, इन सब घटनाओं को किस दृष्टि से देखना चाहिए और इनसे क्या नतीजा निकालना चाहिए। गोडसे और उसके साथियों को सजा मिल जाने से उनके आदर्श, विचारधारा और मनोवृत्ति में फर्क पड़ जायगा, यह नहीं कह सकते। यदि हमारा झगड़ा गोडसे से नहीं बल्कि उस आदर्श, विचारधारा या मनोवृत्ति से है, जिसके असर से गोडसे ने इतना बड़ा दुःसाहस किया तो हमारा हमला

उन्हीं पर होना चाहिए। उसका मुकावला उन्हीं तरीकों से और उसी भावना से करना चाहिए, जो गांधीजी की है—अहिंसा दमन में विश्वास नहीं रखती, समझाने-बुझाने से अर्थात शिक्षण और कष्ट-सहन में विश्वास रखती है। वर्तमान सरकार को गांधीजी की सरकार नहीं कह सकते, वह राष्ट्रीय सरकार है, अलवत्ते गांधीजी की छाप उसपर वहुत कुछ पड़ी है। अतः वह अपने ढंग से गोडसे और साम्प्रदायिक कटुता का, जैसा ठीक समझे, इलाज करेगी। पर वह गांधीवादी इलाज शायद ही हो।

दण्ड, फांसी या दमन हृदय-परिवर्तन के साधन नहीं हैं। फांसी देने पर तो हृदय-परिवर्तन का सवाल ही कहां रहा ! अतः दण्ड और दमन के मार्ग को छोड़कर हमें शिक्षण का, और आवश्यकता पड़ने पर कष्ट-सहन करने का मार्ग स्वीकार करना चाहिए।

इसका अर्थ यह हुआ कि हमें गोडसे के विरादरीवालों में अधिक काम करना चाहिए। जो किसी-न-किसी रूप में अहिंसा के कायल हैं, वह हमारा वास्तव में कार्यक्षेत्र नहीं है। उन्हें तो अहिंसा को संगठित करने और वलिष्ठ वनाने की प्रेरणा और सहयोग देते रहना और प्रसंगानुसार मार्ग-प्रदर्शन करते रहना काफी है। अपार धैर्य और सहिष्णुता के साथ परिश्रम हमें करना होगा।

वापू के वलिदान से जो सवक देश को, और दुनिया को मिलना चाहिए था, सो मिल गया। उनके खून सने कपड़े सम्भालकर रखने से मेरी समझ से लाभ के वजाय हानि अधिक होगी। वापू के वलिदान की अपेक्षा गोडसे और उसके कृत्य की ओर ध्यान

अधिक जायगा, जिसका अर्थ यह हुआ कि उससे अहिंसा की उच्च प्रेरणा मिलने के वजाय प्रतिहिंसा और कटुता के भाव मन में जमें। हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि यद्यपि गोडसे ने संसार का घोर जघन्य कर्म किया है, फिर भी हमें उसका मुकाबला अहिंसा से करना है। बापूजी की हत्या से रोष के वजाय दया का भाव जब हमारे मन में हत्यारे और उसके साथियों के प्रति उपजने लगे और उसे सजा या फांसी दिलाने के वजाय उसपर रहम करने का भाव पैदा होने लगे, तव समझ लेना चाहिए कि हम गांधी के रास्ते पर चल रहे हैं।

: १९ :

पहली बरसी

बापू ने एक ओर कांग्रेस के द्वारा स्वराज्य की लड़ाइयां लड़कर देश को आजाद किया, दूसरी ओर रचनात्मक संस्थाओं द्वारा नये समाज की रचना का मार्ग प्रशस्त किया। इन दोनों कामों को उन्होंने अपने व्यक्तित्व के साथ दाएं-बाएं हाथ की तरह जोड़कर एक-जीव कर दिया था। उनका शरीर एकाएक चला गया तो अस्तव्यस्तता आ जाना स्वाभाविक था। अब उनकी समन्वय-बुद्धि ही हमारी रक्षा कर सकती है और हमें आगे बढ़ा सकती है। हमने उनके सत्य व अहिंसा के मर्म को समझ लिया, रचनात्मक कामों में भी लगे रहे, शासन-काम भी संभालते रहे, परन्तु समन्वय-बुद्धि से काम न लिया तो सामूहिकता न ला सकेंगे, न बढ़ा सकेंगे। व्यक्ति व वस्तु का रूप समझने के लिए विश्लेपण की जरूरत रहेगी, परन्तु उनसे काम लेने के लिए, उन्हें एक जीती-जागती शक्ति बनाने के लिए, समन्वय की ही शरण लेनी पड़ेगी। अपनी विशिष्ट अहन्ताओं को नियम, मर्यादा, संयम में लाना और व्यापक हितों का विचार प्रधान रूप से करना ही समन्वय की प्रवृत्ति है। समन्वय के बिना 'सर्वोदय' शब्द ही निरर्थक हो जाता है। 'सर्व' का अर्थ ही है 'अकेला मेरा नहीं।' बापू की इस पहली बरसी पर हमें बापू के नाम का नहीं, बापू के काम का अधिक स्मरण करना चाहिए, और काम से भी अधिक बापू की भावना-समन्वय-बुद्धि को

अधिक अपनाना चाहिए। नाम हमारे लिए सहारा है, काम बापू को सन्तोष व समाज को सुख देगा, भावना-समन्वय-बुद्धि व्यक्ति व समाज दोनों को बापू के सर्वोदय के लक्ष्य तक पहुंचावेगी।

जनवरी, १९४९

: २० :

गांधी-जयन्ती

गांधी-जयन्ती के उत्सव मनाये जा रहे हैं। चारों ओर से गांधीजी पर व्याख्यान, लेख आदि की मांग हो रही है, इनकी वृष्टि-सी हो रही है। खुद उन्होंने अपने और अपने आदर्श, विचार, कार्यक्रम आदि के बारे में इतना लिखा है, उनके भक्तों, प्रेमियों, अनुयायियों ने भी अबतक उनपर इतना प्रकाश डाला है कि अब आगे क्या लिखा जाय और कैसे लिखा जाय? सूर्य का वर्णन कहांतक व कैसे करें? उसकी एक-एक किरण क प्रभाव, कार्य, परिणाम को जानना, समझना, कहना, लिखना कठिन है, बल्कि असम्भव है। यही हाल गांधीजी का है— प्रायः प्रत्येक महापुरुष का होता है। वह जितने प्रकट रहते हैं, उससे कहीं अधिक अप्रकट रहते हैं। उस अप्रकट का ही थोड़ा-सा अंश प्रकट होता है, जिससे दुनिया चकाचौंध हो जाती है। उस प्रकट को भी हम समझ लें और जितना समझ लेते हैं, उसे हजम करके जीवन में चरितार्थ कर लें तो बहुत है। मुझे कुछ ऐसा लग रहा है कि गांधीजी को हजम करने की बनिस्बत व्यक्ति के कोरे यशोगान की अपेक्षा उसके विचारों को समझना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है और कोरा समझ लेने से अधिक बेशकीमती है उनपर अमल करना। गांधीजी ने हमें 'सत्याग्रह' का मंत्र दिया—'सर्वोदय' की दिशा दिखाई। हम इन्हें समझने का कितना यत्न करते हैं? अपने जीवन में, अपने घरेलू व संस्थागत

जीवन में, उन्हें उतारने का कितना प्रयास करते हैं? घर के, संस्था के, समाज के, झगड़ों को कितना शान्ति, सद्भाव, समझौते की भावना, पंच-फैसले आदि के अनुसार निपटाते हैं? गांधीजी का नाम लेकर भी, उनके भक्त कहलाकर भी, हम झूठ-सच, छल-कपट, तिकड़म आदि सूक्ष्म हिंसा व असत्य के साधनों से कितना वंचित रहते हैं? अपने से मतभेद, कार्य-भेद रखनेवालों के प्रति कितने समभाव से वरतते हैं? चरखा कितना कातते हैं? हरिजनों के प्रति घरोपा कितना पालते हैं? ये तथा दूसरे ऐसे कितने ही प्रश्न हैं, जो मन में उठते हैं और जिनका सही उत्तर हमें इस पखवाड़े में अपनी अन्तरात्मा से मिलना चाहिए। गांधीजी हवाई फिलासफर नहीं थे, कर्ममूर्त्ति थे। हम उनकी जयन्ती उनके आदर्शों को समझकर उनके अनुसार चलने की दृढ़ प्रतिज्ञा करके ही मना सकते हैं। गांधीजी की विश्व-व्यापक आत्मा हमें इसीका वल दे।

१ अक्तूबर, १९४६

: २ :

अव का गाधी-जयन्ती ऐसे कुसमय में आई है जव कि खुद महात्माजी को अपना जीवन एक भार मालूम होने लगा है। जिसके चिरंजीव रहने की प्रार्थना हम नित्य और खासकर इस पुण्य पर्व पर परमात्मा से करते हैं, वह यह प्रार्थना करने लगा है कि यदि यह खून-खच्चर वन्द न हो तो भगवान मेरे इस शरीर को उठा ले। इससे अधिक उनकी वेदना का परिचय किन शब्दों में हो?

अतः आज के दिन हमारा पहला कर्त्तव्य है, देश में शान्ति

स्थापित करना, जिससे भारतवर्ष को एक उच्च कोटि का राष्ट्र बनाने व उत्तम समाज-व्यवस्था कायम करने का अवसर मिले। दूसरा कर्तव्य हमारा यह है कि जिस शासन या समाज-व्यवस्था का आदर्श महात्माजी के सामने है, उसको बनाने में खुद कातना व खुद पहनना, या कहिये ग्रामोद्योग अथवा विकेन्द्रित उद्योग-व्यवसाय का महत्त्व लोगों को समझाना। महात्माजी की कोरी स्तुति करना और उनके आदर्शों की उपेक्षा करना, उनकी जयन्ती मनाने का सही उपाय नहीं है। वह यदि ढोंग नहीं तो खानापूरी ज़रूर है। ढोंग हमें गिरावेगा, खानापूरी से न तो हम आगे बढ़ सकते हैं न आत्म-सन्तोष ही पा सकते हैं।

भगवान हमें इस महापुरुष के, जिसमें केवल तूफ़ानों के सामने खड़े हो जाने का ही नहीं, बल्कि तूफ़ानों व बवण्डरों के मुंह को मोड़ देने का बल है, इस क्षेत्र में, जो आज संसार में अद्वितीय सिद्ध हो रहा है, उसके सच्चे अनुयायी बनने का बल व बुद्धि प्रदान करें।

३० सितम्बर, १९४७

: ३ :

गांधी-जयन्ती श्रद्धा के साथ जगह-जगह मनाई गई, श्रद्धांजलियां भी अर्पित की गईं—यह सब हमारे कल्याण के लिए हुआ। गांधीजी से जो कुछ बना, जी-जान लड़ाकर हमारे लिए कर गए, अब हम उनके नाम पर या उनके सहारे जो-कुछ कर लें, वही हमारे काम आनेवाला है। यदि हम कोरा ज़बानी जमा-खर्च करके रह जाते हैं तो अपनी ही हानि करते हैं। यदि हम वास्तव में उनके बताये मार्ग पर चलते हैं तो अपना ही श्रेय

साधते हैं। श्रेष्ठ बात तो यह है कि बोला कम जाय और किया अधिक जाय। अभी हमें अधिक कहने व कम करने की आदत पड़ी हुई है। यह हमें छोड़नी होगी। इसके छूटने पर ही हम गांधीजी के मार्ग पर चल सकते हैं। खुद गांधीजी ने इसी नियम पर चलकर सिद्धि प्राप्त की थी। जो अपने को गांधीजी का अनुयायी मानते या कहते हैं, उनपर इसकी ज़िम्मेदारी सबसे ज्यादा है। उन्हें, छोटे रूप में क्यों न हो, गांधीजी की प्रतिमूर्ति बनने का प्रयत्न करना चाहिए। गांधीजी को योजनाओं और कार्यक्रमों को चलाने की भावना के साथ-साथ गांधीजी के गुणों का अनुकरण करने व गांधीजी जैसी शक्ति प्राप्त करने का भी प्रयत्न करना चाहिए। उन गुणों व शक्तियों के अभाव में कोरी लकीर पीटना या अहम्मन्य बनकर रह जाना ही हमारे हाथ आवेगा। अतएव हमारी राय में तो गांधी-जयन्ती से हमें आत्म-शोधन की ज़बरदस्त प्रेरणा मिलनी चाहिए।

अक्तूबर, १९४८

: ४ :

गांधी-जयन्ती को बापू ने 'चरखा-जयन्ती' नाम दिया—उन्होंने व्यक्ति को भुलाकर वस्तु-आदर्श को याद रखने पर ज़ोर दिया। व्यक्ति आदर्श का प्रतीक है और होना चाहिए, जैसे कि आदर्श व्यक्ति को व्यक्तित्व प्रदान करता है। व्यक्ति अपने को मिटाकर आदर्श को उज्ज्वल रखे—व्यक्ति समष्टि में मिले, यही स्वाभाविक स्थिति होनी चाहिए। चरखा बापू के लिए कोरा वस्त्र-साधन नहीं था, वह अहिंसा का प्रतीक है। अहिंसा-त्मक समाज-रचना (सर्वोदय) का मुख्य स्तम्भ या मेरु-मणि

है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन्हें गांधीजी के प्रति श्रद्धा है, उन्हें चरखा कातना चाहिए और वह भी अहिंसा-साधना की दृष्टि से। चरखे द्वारा यदि हम भारत को और सारे मानव-समाज को कपड़े की चिन्ता से मुक्त करें तो यह भी वहुत वड़ी सिद्धि होगी। 'सर्वोदय' के शरीर की रचना उससे होगी, परन्तु प्राण तो अहिंसा-भाव के विकास से ही उसमें आ सकता है। 'अहिंसा' के कम-से-कम दो अर्थ स्पष्ट हैं : एक तो हम अपने उद्देश्यों व कार्यक्रमों की सिद्धि के लिए केवल शुद्ध साधनों से ही काम लें, दूसरे हम संकुचितता, वैर, द्वेष की भावना छोड़कर व्यापक उदार भावना रखें व परस्पर सहयोग-वृत्ति से, सामाजिकता से काम लें। मतभेद, नीति-भेद, कार्य-भेद, होते हुए भी हम एक-दूसरे के प्रति घृणा, तिरस्कार, तुच्छता के भाव न रखें; गुण-ग्रहण-शीलता, परमत-सहिष्णुता को वढ़ावा दें। इन मानसिक गुणों के विकास के साथ और उनका प्रतीक मानते हुए यदि हम चरखा कातते हैं तो अवश्य ही 'सर्वोदय' को निकट लावेंगे और यही वापू के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

सितम्बर, १९४९

: ५ :

इस वार गांधी-जयन्ती के शुभ अवसर पर सारे देश में स्वच्छता सप्ताह का आयोजन किया जा रहा है।

गांधीजी सफ़ाई पर वहुत ज़ोर देते थे। वह सफ़ाई को एक पुनीत काम समझते थे। मल-मूत्र की सफ़ाई करना गन्दा और घृणित काम समझा जाता है, पर गांधीजी ने खुद मैला उठाकर इस गलत धारणा को दूर करने का रास्ता दिखाया।

साबरमती आश्रम में और सेवाग्राम में यह काम आज भी आश्रम-वासी अपने हाथों से करते हैं।

लेकिन गांधीजी जिस स्वच्छता पर ज़ोर देते थे, वह केवल ऊपरी सफ़ाई नहीं है। हम लोग स्वच्छता के व्यापक अर्थ को भूलकर उसका वहुत संकुचित अर्थों में प्रयोग करने लगे हैं। हम समझते हैं कि स्वच्छना सिर्फ इसमें है कि शरीर पर पानी डाल लिया और साफ़-सुथरे कपड़े पहन लिये या घर-आंगन में सफ़ाई करली या चौके में बैठकर भोजन कर लिया या अस्पृश्य कहने-वाले लोगों का छुआ अन्न अथवा जल ग्रहण नहीं किया। स्वच्छता वास्तव में इससे वहुत गहरी चीज़ है। वह एक आदत है, साधना हैं, जो जीवन के हर पहलू में प्रकट होनी चाहिए। मन, वचन और कर्म तीनों की स्वच्छता ही सच्ची स्वच्छता है। मनुस्मृति में कहा है

दृष्टि पूतं न्यसेद् पादं वस्त्र पूतं जलं पिवेत् ।
सत्य पूतावदेत्वाचं मनः पूतं समाचरेत् ॥

अर्थात दृष्टि को पवित्र करके कदम वढ़ाना चाहिए, यानी अच्छी तरह देखकर चलना चाहिए, जिससे ठोकर न लगे। जल को कपड़े से पवित्र करके यानी कपड़े से छानकर पीना चाहिए और मन को पवित्र करके आचरण करना चाहिए।

स्वच्छता का वास्तविक आदर्श यही है। अंग्रेज़ी में एक कहावत है, 'क्लीन्लीनेस इज़ नेक्स्ट टु गौडलीनेस' अर्थात स्वच्छता ईश्वरोपासना का दूसरा रूप है। इसका तात्पर्य यही है कि यदि हम मन, वचन, और कर्म से स्वच्छ हैं तो उसका उतना ही महत्त्व है जितना कि ईश्वरोपासना का। कारण यह है कि इस तरह की स्वच्छता का सारे समाज पर अच्छा असर पड़ता है और

प्रकार मानव-सेवा ईश्वर-भक्ति से किसी प्रकार कम नहीं है, वल्कि सेवा-रहित भक्ति केवल आडम्वर व ऊपरी या दिखावटी स्वच्छता भी आडम्वर है।

हमारे देश के लोगों में स्वच्छता की यथार्थ भावना वहुत कम द्रेखने में आती है। चाहे जहां थूक देना या मल-मूत्र त्याग करना, घर का कूड़ा-कचरा गली में फेंक देना, सड़कों पर फलों आदि के छिलके डालना, वाग-वगीचों में जूठे कागज-दोने आदि विखेरना साधारण वातें हैं ,जिनकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। यदि कोई इन पर आपत्ति करता है, तो उसे उल्टा मूर्ख वताया जाता है। यह वड़े खेद और शर्म की वात है। सुना है, विदेशों में इस तरह गन्दगी लानेवालों के खिलाफ़ वहुत सख़्त कार्रवाई की जाती है। कहते हैं, मोटर में बैठी हुई एक महिला ने सड़क पर पान की पीक थूक दी तो उसी के हाथों से साफ़ कराई गई। कुछ देशों में एक प्रकार का सैनिक-शासन है, परन्तु हमने लोकतन्त्र का मार्ग अपनाया है। अगर हम अपने ऊपर अनु-शासन नहीं रख सकते तो इससे लोकतंत्र की जड़ें कमज़ोर होती हैं। हमें ध्यान रखना चाहिए कि स्वतन्त्रता सिर्फ़ हमारे शरीर तक या घर तक ही सीमित न रहे, वल्कि उसके दायरे में हमारा पड़ोस, हमारा गांव या नगर और हमारा देश भी शामिल हो।

इसलिए आज सवसे वड़ी आवश्यकता इस वात की है कि हम स्वच्छता के सही अर्थों को समझें और उसके अनुसार व्यवहार करने की आदत डालें। इसके लिए जैसा कि मैं वता चुका हूं, स्वच्छता की भावना का विकास करने की ज़रूरत है। मैं चाहता हूं कि स्वच्छता सप्ताह में जहां सफ़ाई के कार्यक्रम पूरे किये जायं, वहां, साथ ही स्वच्छता की भावना पर भी उतना

ही ज़ोर दिया जाय, वरना स्वच्छता-सप्ताह की वास्तविक सफलता इसी बात में भी आंकी जायगी कि उससे लोगों में स्वच्छता की भावना कहां तक जाग्रत होती है। गांधीजी ने अपने उदाहरण से और अपने व्यवहार से स्वच्छता का जो आदर्श हमारे सामने रखा है, अर्थात हमारे मन, वचन और कर्म तीनों में स्वच्छता हो, उसी आदर्श का पालन करके हम अपने देश को स्वच्छता का नमूना बना सकते हैं।

अक्तूबर, १९६२

: २१ :

तीस जनवरी

बापू को गये ९ साल हो गए। जीवित रहकर उन्होंने मनुष्य-जाति की जो सेवा की, वह तो अपूर्व थी ही, लेकिन मरने के वाद मनुष्यता को जितना उन्होंने ऊंचा उठाया, उसका हिसाब लगाना मुश्किल है। उन्हें गोली लगने के पहले, जो लोग एक-दूसरे को अपना दुश्मन मानते थे वे गोली लगने के बाद से अपने-को दोस्त मानने लगे। यह जादू उनकी मृत्यु ने कर दिखाया। मरने के पहले यह समझा जाने लगा था कि गांधीजी की वाणी में अब वह ज़ोर नहीं रहा और वह खुद भी यह महसूस करने लगे थे, और इसीलिए अपनी सार्वजनिक प्रार्थना-सभा तक में उन्होंने एक रोज़ भगवान से यह प्रार्थना की कि भगवान मुझे जल्दी उठा ले, यहांतक कि व्यथित होकर प्रार्थनार्थियों से भी कहा कि मेरे साथ तुम भी भगवान से प्रार्थना करो कि वह मुझे उठा ले। भगवान ने कुछ ही दिनों के अंदर उनकी प्रार्थना सुन ली और वह भी ऐसे विलक्षण तरीके से कि जीवित रहकर जो गांधी बेकार-से साबित होने लगे थे, वह मरने पर एक सजीव और शक्तिशाली जीवन और प्रेम का स्रोत बन गए। मनुष्य जीवित रहकर ही सेवा नहीं करता, बल्कि कई बार मरने पर उससे भी श्रेष्ठ सेवा करता है। आगे रहकर ही सेवा नहीं हो सकती, पीछे रहकर भी कई बार बड़ी सेवा हो सकती है। भागदौड़ कर ही बहुत बड़ी सेवा नहीं हो सकती, बैठे रहकर

भी वड़ी सेवा हो सकती है। हाथ-पांव हिलाना तो सेवाभाव का एक प्रदर्शनमात्र है। यदि मन में अखंड और अटूट सेवा-भाव है तो मनुष्य की वाह्य क्रियाएं उसका निदर्शनमात्र हैं, स्वयं वे सेवा-भाव की सूचक नहीं हैं। वह वहुत वड़ी असेवा या कुसेवा की भी सूचक हो सकती है। वापू के जीवन और मरण दोनों इसके जीते-जागते उदाहरण हैं।

वापू जिस अवस्था में एकाएक चले गए, वह ऐसी नहीं थी कि वह पूर्णकाम हो गए थे। उनके मन में एक-सौ वर्ष जीने की लालसा थी और वह भी इसलिए कि वह अपने सामने भारत में 'रामराज्य' ला देना चाहते थे और पृथ्वी पर स्वर्गराज की झलक दिखा देना चाहते थे। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है, या हम ही क्यों न यह कल्पना करें कि यदि वापू की आत्मा यह देखना चाहती है या देख रही है कि मेरे वाद मेरे भारत का दुनिया में क्या हाल हो रहा है तो कोई ताज्जुव नहीं। मैं समझता हूं कि जरूर उनको इस वात से संतोष होगा कि उनका एक वारिस—जवाहरलाल—भारत में ही नहीं, सारे संसार में सफलतापूर्वक उनके शान्ति-सन्देश को प्रसारित कर रहा है। और उनका एक पट्ट शिष्य—विनोवा—'सर्वोदय' के आदर्श को साकार करने के लिए प्राणपण से प्रयत्न कर रहा है। अपने इन दो मानसपुत्रों की श्रेष्ठता और योग्यता को देखकर उनकी छाती हर्ष से फूली न समाती होगी। वापू का एक शरीर संसार में नहीं रहा, परन्तु निस्संदेह उनकी शक्ति और तेज दो शरीरों में समा गए या आविर्भूत हुए। एक ने अंतर्राष्ट्रीय जगत की नव्ज़ अपने हाथ में ले ली और दूसरे ने भारत की नव्ज़ पर इस तरह हाथ रखा है कि वह सारे विश्व के लिए शान्ति और समता

का मार्ग-दर्शक हो रहा है। भारत के ये दोनों महापुरुष इस समय अलग-अलग शरीरों में रहते हुए, अलग-अलग मुखों से अपनी अलग-अलग भाषा बोलते हुए, अपने वापू के ध्येय को पूरा कर रहे हैं। जवाहरलालजी ने संसार के दो महान बलिष्ठ और परस्पर युद्ध से आशंकित और भयभीत राष्ट्रसमूह को अपने पंचशील सूत्र के द्वारा पकड़कर रोक रखा है। वे न केवल इस महान टक्कर को रोक ही रहे हैं, वल्कि उनके, एक-दूसरे के निकट आने का भी रास्ता सरल कर रहे हैं। इधर विनोवाजी ने बे-ज़मीन लोगों के लिए ज़मीन मांगकर, वल्कि अब तो गांव-के-गांव भूदान में लेकर, एक महान चमत्कार कर दिखाया है।

, आज वापू की पुण्य-स्मरण-तिथि है, श्राद्ध-दिन है। उनके जीवन का चिंतन करते हुए आज हठात ये विचार मन में आ रहे हैं और उनके कुछ ऐसे जीवन-प्रसंग ध्यान में आये, जिनका चिंतन, आज जव हम नवराष्ट्र का निर्माण करने जा रहे हैं, हमारे लिए फलप्रद सिद्ध हो सकता है।

आज जव हम भारत माता का एक नया और उज्ज्वल चित्र वनाने जा रहे हैं तो हमें सभी के सहयोग की और विविध साधनों के उपयोग की आवश्यकता है। आज मनुष्य तो क्या, एक तिनका भी हमारे लिए आवश्यकतानुसार वहुमूल्य है और होना चाहिए। यह विश्वास और सहयोग से हो सकता है, लेकिन हम लोग तो आपस में भी एक-दूसरे पर वड़ा संदेह और अविश्वास रखते हैं और एक-दूसरे की निंदा और तिरस्कार करते हैं। अपने विरोधी तो दूर, अपने मित्र और साथियों की भी यथोचित क़द्र और इज्ज़त नहीं करते। वापू अपने विरोधी

की भी जितनी इज्ज़त करते थे, उसकी जितनी क़द्र करते थे, उसके सैकड़ों उदाहरण हैं।

मेरे एक प्रतिष्ठित मित्र वापू की अहिंसा-नीति के वड़े आलोचक थे और उनको मुसलमानों का पक्षपाती मानकर उनकी घोर आलोचना करते थे। कई वार मुझसे कहा कि मेरी गांधीजी से मुलाकात करा दो तो मैं उनको वताऊं कि वह कैसे गुमराह हो रहे हैं। मित्र वड़े मुंहफट थे; इसलिए मैं मन में मुलाकात कराने से डरा करता था। लेकिन एक दिन वह डर सामने आ ही गया। वापू अहमदावाद जाते हुए अजमेर स्टेशन से गुजरे। मित्र स्टेशन पर आये और मुझसे कहा, "गांधीजी से मेरा परिचय कराओ।" मित्र वापू के डिब्बे में गये और उन्हें भला-बुरा कहने लगे। मेरा मुह फक होने लगा। वापू प्रसन्न मन से सव सुन रहे थे। चेहरे पर वही सवको जीत लेने-वाली मुस्कराहट! गाड़ी चल दी। मैं आगे तक साथ गया। मैंने वहुत सिटपिटाते हुए पूछा, "वापू, आपको वहुत-कुछ खरा-खोटा सुनना पड़ा।" मैंने अपनी छोटी वुद्धि के अनुसार मन में सोचा कि वापू मन में कह रहे होंगे कि कैसे लट्ठमार से इसने मेरा परिचय करा दिया। वापू ने कहा, "नहीं, मुझे तो उनकी वात वड़ी अच्छी लग रही थी। गाड़ी चल दी, नहीं तो मैं उनकी वात और सुनता।" मैंने कहा, "वापू, वह आदमी दिल से वड़ा साफ है।" वापू ने कहा, "ऐसे लट्ठमार आदमी अक्सर दिल से मैले नहीं होते।"

आज हम वड़े तो ठीक, छोटे-छोटे आदमियों के प्रभाव में आकर उचित-अनुचित का विचार कई वार भूल जाते हैं। लेकिन वापू वड़े-से-वड़े तेजस्वी मित्रों के तेज से और प्रभाव

से भी अपना निश्चित मार्ग नहीं छोड़ते थे। अहमदावाद कांग्रेस के समय की वात है। देशवन्धुदास और पं० मोतीलालजी नेहरू जेल में थे। वह अधिवेशन वड़ा महत्त्वपूर्ण था। तत्कालीन प्रिंस ऑव वेल्स के वहिष्कार का आंदोलन चल रहा था। वापू के मार्ग-दर्शन पर सव आंख लगाये हुए थे। देशबंधुदास और मोतीलालजी ने चिंतित होकर जेल से गांधीजी के नाम आंदोलन और कार्यक्रम के वारे में संदेश भेजा। उनको शायद ख़याल हुआ कि गांधीजी अभी भारत की राजनीति में नये खिलाड़ी हैं, कहीं चाल न चूक जायं। लेकिन वर्किंग कमेटी की आपस में वातचीत में ज्योंही यह सवाल आया, वापू ने वड़ी दृढ़ता से कहा कि जो जेल में चले जाते हैं उनकी 'सिविल डैथ' हो जाती है। उन्हें जेल से वाहर कुछ कहने-सुनने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। हम वाहरवाले वाहर की परिस्थिति का विचार करेंगे। उन्हें जेल में चिंता करने की आवश्यकता नहीं है और न हमें उनके विचार और सुझावों की चिंता करने की आवश्यकता। वड़े-वड़े नेता जो उस समय वहां थे, उनकी इस दृढ़ता को देखकर उनके मुंह की तरफ देखते रह गए। ऐसे निर्भय वाक्य सुनने का शायद उन्हें यह पहला ही मौका था।

चौरीचौरा-कांड के वाद वापूजी ने एक साल में स्वराज्य देने का नोटिस स्थगित कर दिया और उसके निमित्त होनेवाले सत्याग्रह की कार्रवाई स्थगित कर दी। इसपर कांग्रेस क्षेत्रों में वड़ी हलचल मच गई। इस स्थिति पर विचार करने के लिए ए० आई० सी० सी० की मीटिंग दिल्ली में वुलाई गई, जिसमें गांधीजी की इस स्थगित कार्रवाई का वड़ा विरोध हुआ। कई वक्ताओं ने वापू को आड़े हाथों लिया। इससे

पहले शायद ही गांधीजी को इतनी सख्त वात अपने साथियों और अनुयायियों से सुननी पड़ी। मैं उन दिनों सावरमती में रहता था और 'हिन्दी नवजीवन' का काम करता था। जब वापू दिल्ली से लौटे तो मैंने दुःख के साथ उनसे कहा कि वापू, अवकी वार तो आपका दिल्ली में वड़ा विरोध हुआ। मुझे यह सवकुछ अच्छा नहीं लगा। वापू ने आश्चर्य से पूछा, "क्यों, इसमें बुरा लगने की क्या वात है ? जो कुछ विरोध हुआ वह तो मुझे वहुत अच्छा लगा। उससे मुझे पता लग गया कि अव कांग्रेस के लोग कितने निडर हो गए। जव मुझ-जैसे का कसकर विरोध करते हैं तो अव ये दुनिया में किसी से नहीं दबेंगे। यह निडरता तो मुझे बड़ी प्रिय हुई। लेकिन एक दूसरी वात से मुझे अफ़सोस हुआ और वह यह कि इतना विरोध करके भी आखिर वोट मेरे ही पक्ष में दिये और मुझे जिता दिया। इससे मेरी समझ में नहीं आया कि मेरा वास्तविक विरोधी कौन है और मेरे पक्ष में कौन है। मुंह से वात विरोध की कही और हाथ मेरे पक्ष में उठाये।"

मनुष्य अपने साथ ढीला और दूसरों के साथ कठोर व्यवहार करता है। इसका नतीजा यह होता है कि दूसरे लोग तंग आ जाते हैं और हमारे प्रति उनकी श्रद्धा नहीं वढ़ पाती। परन्तु वापू का व्यवहार इससे उल्टा था। वह अपनों के प्रति वहुत कठोर और जागरूक रहते थे और दूसरों के प्रति सहृदय और सुकोमल भाव रखते थे। अपने राई के वरावर दोष को भी वह क्षमा नहीं करते थे, जवकि दूसरों के पहाड़ के वरावर दोष को भी वह अपने पेट में समा लेते थे। मुझे ऐसा एक प्रसंग याद आ रहा है। गांधी-सेवा-संघ के एक सम्मेलन में एक ऐसे

दम्पति आये थे, जिन्होंने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था। पति एक जगह काम करते थे और पत्नी दूसरी जगह पढ़ती थी। उस सम्मेलन में दोनों आये थे। दुर्भाग्य से उस समय उनका व्रत भंग हो गया। दैवयोग से उसी दिन वापू ने अपने प्रार्थना-प्रवचन में संयम और ब्रह्मचर्य का विवेचन किया। उसे सुनकर उस भाई से न रहा गया और उसी सभा में खड़े होकर और हाथ जोड़कर वापू से कहा, "मैं पापी हूं, मुझसे आज एक पाप हो गया है।" वापू दम्पति के व्रत को जानते थे और उसी समय अपनी करुणा और महानता के साथ हाथ का इशारा करके कहा, "वैठ जाओ। हम सव पापी हैं।" वापू की इस क्षमा-शीलता से सवके नयन सजल हो गए। यह घटना ईसामसीह के उस प्रसंग की याद दिलाती है, जव उन्होंने किसी दुराचारिणी स्त्री के सिलसिले में कहा था कि उसे पहले वह आदमी पत्थर मारे, जिसने स्वयं कभी कोई पाप न किया हो।

वापू जितने ही आदर्शवादी थे, उतने ही वह व्यवहारी और व्यवहार-कुशल भी थे। मनुष्य की परीक्षा करना भी खूव जानने थे। एक वार बंवई में कांग्रेस के जलसे के समय उन्हें यह ख़वर लगी कि कुछ राजनैतिक विरोधियों ने मुझे मारने-पीटने का, और अजमेर प्रदेश कांग्रेस कमेटी के कांग्रेस-पंडाल स्थित दफ्तर पर ज़वरदस्ती कब्ज़ा करने का आयोजन किया है। उस समय मैं प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का अध्यक्ष या प्रधान मंत्री था। रात के १०-१०॥ वजे थे। वापू सोने जा रहे थे। उन्होंने एक मित्र द्वारा मुझे संदेश भिजवाया, "हरि-भाऊ से कहो कि वह रात को कैंप छोड़कर बंबई (शहर) में जाकर सो रहे।" मुझे वड़ा आश्चर्य हुआ कि वापू ने यह कैसी

कायरतापूर्ण सलाह दी है। वापू तो हमेशा ऐसे कठिन और विकट अवसर में मुकावला करने की प्रेरणा देते हैं। मैंने मित्र से कहा कि मुझे वापू की सलाह पसंद नहीं आई। उन्होंने कहा, "चलो बापू से वात कर लो।" मैं गया। मैंने ज़रा विगड़कर कहा, "वापू, आपने मुझे यह कायरता की सलाह कैसे दी?" वह वोले, "भाई जो रिपोर्ट मैंने सुनी है, उससे मुझे ऐसा लगा कि इस आयोजन की खवर से तुम भयभीत हो गए हो। भयभीत का धर्म है प्राण वचाना। सो मैंने तुम्हें प्राण वचाने की सलाह दी है। भयभीत का धर्म तुम्हें वताया है।" मैंने कहा, "बापू, मुझे ज़रा भी डर नहीं लगा है।" वापू को कदाचित इसपर विश्वास न हुआ और उन्होंने मुझे कसना चाहा और दृढ़ता के स्वर में बोले, "अच्छा, अगर तुम्हें कोई डर नहीं है तो जाओ, आज उन लोगों के कैंप में उनके पास जाकर सोओ, जो इस किस्म का हमला करने की वात सोच रहे हैं।" वापू की यह सलाह मुझे वहुत पसंद आई। मेरे मन का सारा बोझ हल्का हो गया और मैंने कहा, "वापू, यह आपने ठीक सलाह दी है।" मैं उसी समय रात को उस कैंप में गया और उन सोते हुए मित्रों को जगाकर कहा कि ऐसी खवर सुनकर मैं यहां आया हूं और आप जो कुछ करना चाहें, वह शौक से कर सकते है। जब वापू को यह खवर लगी तो वहुत संतुष्ट हुए।

वापू की मोहन-शक्ति का एक प्रसंग याद आ रहा है। एक लड़की के पिता उसकी इच्छा के खिलाफ़ शादी करना चाहते थे। लड़की वापू के आश्रम में आती-जाती रहती थी। कोई उपाय न देखकर उसने वापू से पूछा, "क्या करूं?" वापू ने कहलाया, "मेरे पास चली आओ।" लड़की चुपके से भागकर

वर्धा चली आई। माता पिता—खासकर पिता वड़े क्रुद्ध हुए। वापू से मिलने आये। वापू ने आगत-स्वागत का खास तौर पर स्वतः ध्यान देकर प्रबंध कराया। मुलाकात के समय बापू ने उस लड़की को भी बुला भेजा। कमरे में आते ही दम्पति ने वापू को झुककर प्रणाम किया। वापू ने अपनी मोहिनी मुस्कान से कुशल समाचार पूछे। फिर कहा, "यह मेरे पास भागकर आ गई है। इसे ले जाना चाहते हो? अच्छा, ले जाओ, तुम्हारी लड़की है।" वापू के इन वचनों का कुछ ऐसा अजीव प्रभाव पिता पर पड़ा कि वह हठात बोल पड़ा—"वापू, लड़की आपकी है, भले आपके ही पास रहे।" वापू ने फौरन वत्सल-भाव से कहा, "तो अच्छा, इसकी मर्ज़ी है। यहीं रहे।" दम्पति आये थे लड़की को लिवा लेने, और वहीं छोड़कर जाने को तैयार हो गए। जो क्रोध होकर आया था वह समर्पण वनकर रह गया। वापू का मोहन नाम यहां सार्थक हुआ।

वापू का जीवन सूर्य के समान रहा है और उनके जीवन की घटनाएं सूर्य की अनंत किरणों के समान हैं। हमारे देश और विश्व की वर्तमान परिस्थिति में मुझे स्वभावतः अपने से संबंधित उन्हीं घटनाओं का स्मरण हुआ, जो इस वातावरण में याद आ सकती हैं। यही स्मरण-शक्ति आज के पुण्य-प्रसंग पर अपने श्रोताओं को समर्पित है।

: २२ :

गांधीवाद या गांधी-दर्शन

आज का विषय गांधीवाद है। सच पूछा जाय तो गांधीवाद जैसी कोई चीज़ नहीं है। संसार में वाद कई हैं : कम्यूनिज़्म, सोशलिज़्म, फासिज़्म आदि। इसी तरह गांधीवाद चल पड़ा है। इसके लिए अभी कोई दूसरा अच्छा शब्द नहीं मिला है। बापूजी ने कभी प्रयत्न नहीं किया कि गांधीवाद जैसी चीज़ उनके नाम से चले। उन्होंने कुछ सिद्धान्त अवश्य बना रखे थे। उनका आशय कोई वाद या पंथ चलाना नहीं था। उन्होंने एक शब्द प्रचलित किया था। उसके पहले शायद भारतवर्ष के इतिहास में वह शब्द नहीं मिलेगा। वह है सत्याग्रह। यदि किसी शब्द में उनके सिद्धान्तों को पकड़ना चाहें तो वह है सत्याग्रह। आग्रह कहते हैं किसी बात पर ज़ोर देना, जिसका भाव यह है—करेंगे या मरेंगे। जीवेंगे या मरेंगे। मूल शब्द सत्य है। गांधीजी ने इस शब्द के अर्थ पर नया प्रकाश डाला है। सत्य शब्द आमतौर पर दो अर्थों में व्यवहृत होता है—एक तत्त्व अर्थ में और दूसरा गुण अर्थ में। तत्त्व की व्याख्या में तो सत्य का अर्थ है अविकार, त्रिकालावबाधित, अपरिवर्तनशील। गुण की व्याख्या में सत्य का अर्थ है सच बोलना सचाई से रहना। मनुष्य का धर्म है सत्य पर चलना। तो गांधीजी का सिद्धान्त यही था कि जो चीज़ सत्य है, उसे पकड़ना और उसका आग्रह करना जिससे समाज का, सृष्टि का कल्याण होता हो या जो

चीज़, सत्य-समाज, सृष्टि की मूलभूत आधार हो, उसे पकड़ना चाहिए और उसका पालन करना चाहिए। ज़रूरत पड़े तो उसका आग्रह भी, जी-जान से करना चाहिए। तभी व्यक्ति-जीवन या समाज-जीवन सफल होगा। सत्य के पकड़नेवाले पहले भी ध्रुव, प्रह्लाद आदि हुए हैं। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने भी आत्मा और शरीर में आत्मा को सत्य समझकर उसके चिन्तन, मनन आर प्राप्ति पर ज़ोर दिया। वेदान्तियों ने भी एक ही तत्त्व माना है, चेतन आत्मा। तो बापूजी भी कहा करते थे कि जो एक सत्य सनातन वस्तु है, उसे पकड़ रखना चाहिए, अन्य सव उसी पर आधारित होंगे। जैसे माला में फूल अनेक होते हैं, लेकिन धागा एक। अनार एक ही होता है लेकिन उसमें दाने अनेक। सव दाने उसके एक कवच में छिपे होते हैं। अत: इन उदाहरणों से मालूम होता है कि संसार में एक ही तत्त्व व्याप्त है। व्यवहार की दृष्टि से भी जीवन तभी सुखी हो सकता है, जव हम सचाई से रहेंगे। तो अव सवाल यह रह जाता है कि इस सत्य को प्राप्त कैसे किया जाय? गांधीजी का मत है कि सत्य को पाने के लिए सत्य ही साध्य हो सकता है। गुण रूप सत्य हमारा साधन और तत्त्व रूप सत्य हमारा साध्य होना चाहिए। सचाई से रहने का अर्थ है न दूसरे को धोखा देना, न अपने-आपको धोखा देना। इस तरह से जीवन विताना चाहिए। उसमें चाहे परम सत्य की प्राप्ति हो या न हो, व्यावहारिक सत्य की तो सिद्धि कर ही लेनी चाहिए। यों अपवाद रूप में व्यावहारिक सत्य को लोग कभी-कभी छोड़ भी देते हैं, लेकिन सोचने की चीज़ यह है कि जीवन किसपर टिका हुआ है? जीवन सचाई पर ही टिका हुआ है। यदि सव आदमी झूठ

बोलने लगें या धोखा देने लगें तो समाज टिक सकेगा या सुखी बन सकेगा ? शासन भी बिगड़ जायगा।

इसके साथ सत्याग्रह में एक चीज और छिपी हुई है। वह है अहिंसा। सत्य और अहिंसा का जोड़ा है। जहां आपको प्राचीन ग्रंथों में "सत्यान्नास्ति परो धर्मः" मिलेगा, वहां "अहिंसा परमो धर्मः" भी मिलेगा। अतः इन दोनों का जोड़ा है। जैसे सत्य का अर्थ है दूसरे को धोखा न देना, उसी तरह अहिंसा का अर्थ है, दूसरे को न सताना। यदि आप दूसरे को दुःख देना पसन्द नहीं करेंगे तो आपको भी कोई नहीं सतायेगा। 'जियो और जीने दो' का सिद्धान्त ही श्रेयस्कर है। बापूजी यही कहा करते थे कि अहिंसा के बिना समाज चल नहीं सकता। या यों कहें तो कोई आपत्ति नहीं होगी कि सृष्टि का मूल आधार जहां सत्य है, वहां समाज का मूल आधार अहिंसा है। सृष्टि में भी हिंसा चल सकती है? और है, लेकिन समाज हिंसा से बिल्कुल नहीं चल सकता। डरने-डराने की और दबने-दबाने की भावना जब समाज में से उठ जायगी, तभी वह सुखी रह सकता है। आप इसे करके देखिये। यदि आपको, आपके परिवार को, समाज को और संसार को इससे सुख और शान्ति मिले तो हमारी बात, गांधीजी की बात मानना। और यदि यह झूठ निकले तो हमें गालियां देना। कोई माने तो एक साल हिंसा और अहिंसा का प्रयोग करके देख लें।

अहिंसा की अनेक व्याख्याएं हैं। मैंने तो सरल-सी आपके सामने रखी हैं। अहिंसा एक निषेधात्मक शब्द है, विधेयात्मक नहीं। यह न करो, वह न करो, यही अर्थ इससे निकलता है। 'क्या करें' यह इस शब्द से व्यक्त नहीं होता। आजतक के अर्थ

मुझे अपूर्ण लगते हैं। प्रेम, सहयोग, सेवा, शुभ और मंगल की भावनाओं से ही अहिंसा का अर्थ पूर्ण होगा। मुझे जो अहिंसा के लिए सार्थक शब्द सूझा, वह है मंगल। जगत के प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक पदार्थ के प्रति मंगल की भावना होनी चाहिए। मंगलमय शब्द हमारे जीवन में फैला हुआ है। हमारे प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण होता है। तो यह तो अहिंसा की व्याख्या या अर्थ के बारे में हुआ। उसका प्रभाव भी आश्चर्यजनक है। सत्य से मनुष्य स्वयं निडर हो जाता है और अहिंसा से वह दूसरों को निडर बनाता है। सत्य और अहिंसा दो ऐसे शस्त्र हैं, जिनसे मनुष्य में दुनिया से लड़ने की, और टिके रहने की ताकत आ जाती है।

हमारे चलाये हुए पंचशील-सिद्धान्त सत्य और अहिंसा पर आधारित हैं। आज बापूजी की दी हुई शिक्षा का अन्त नहीं हुआ है। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में बापू की देन है 'सर्वोदय'। मनुष्य के विकास, सुख, शान्ति और समता की दृष्टि से आज शासन की सब प्रणालियों में जनमत प्रणाली अच्छी है। लेकिन उसमें भी सबकी एक राय नहीं मिलती। जब सबकी एक राय नहीं मिलती तो जन-कल्याण के लिए बहुमत की राय ली जाती है। लेकिन बहुमत की राय या जनतंत्र-प्रणाली से सबका समाधान नहीं होता। अल्पमतवाले अपने अधिकारों से वंचित रह जाते हैं। बापूजी ने इस कमी को पकड़ा। तब उन्होंने सबके कल्याण और सबके सन्तोष के लिए सर्वोदय की प्रणाली निकाली। सबका उदय, विकास और मंगल हो, यही भावना इसमें है। अब देखना यह है कि पहले सेवा किसकी करनी चाहिए। गरीब की या अमीर की, छोटे की या बड़े की। पहले

नम्बर सेवा का अधिकारी वह है, जो ज़्यादा दुखी है या ज़्यादा साधनहीन है।

आजकल गांधीवाद के सामने और सब वाद ढीले पड़ गए हैं। साम्यवाद को ही ले लीजिए। उसका कहना है कि वर्ग-हीन समाज की स्थापना हो और मनुष्य अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार काम करे और अपनी आवश्यकता भर साधन-सामग्री समाज से प्राप्त कर ले। लेकिन ये बातें तो हमारी प्राचीन संयुक्त-परिवार प्रणाली में होती थीं। एक परिवार के सब भाइयों की कमाई एक जगह एक बाप के पास इकट्ठी होती थी और सबकी आवश्यकता एक जगह से पूरी होती थी। सबके ब्याह-शादी, शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन समान होते थे। तो साम्यवाद पश्चिम के लिए नई चीज हो सकती है, हमारे यहां तो प्राचीनकाल से यह चला आ रहा है। आगे चलकर हमने इस प्रणाली को छोड़ दिया। इसका विकास रुक गया। इस-लिए दुःख उठाने लगे। इसीलिए बापूजी या विनोबाजी कहते हैं कि सबको अपना मानो, सबके मंगल की बात सोचो। भूदान-आंदोलन यही तो बता रहा है कि सब चीज़ सबकी। व्यक्ति का अधिकार किसी पर नहीं होना चाहिए। सारांश यह हुआ कि सर्वोदय, भूदान-आन्दोलन ये सब गांधीवाद की देन हैं और सर्वोदय और सत्याग्रह की सिद्धि के लिए उन्होंने बताया है कि कुछ प्रतिज्ञाए लेना और एक निश्चित कार्यक्रम बनाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने एकादश-व्रत बताये हैं तथा रचनात्मक कार्यक्रम हमारे सामने रखा है। इनपर यदि हमने अमल किया तो एक दिन हम वर्गहीन-समाज और शासन तथा शोषण-रहित-व्यवस्था के कायम करने में सफल होंगे। इन्हें

आप सर्वोदय सिद्धान्त कहें, या गांधीवाद कहें। ये ऐसे गुण हैं, जिनकी शिक्षा का प्रचार स्कूल और कालिज के प्रत्येक विद्यार्थी तक होना चाहिए। यही तो सच्ची शिक्षा है।

: २३ :

कसौटी पर

गांधी-पंथियों में मैं दो प्रकार के लोगों को शामिल करता हूं। एक वे जो गांधी-स्पिरिट (मूलभाव) के क़ायल हैं, उनके कार्यक्रम पर उतना ध्यान नहीं देते; और दूसरे वे जो गांधी-मत और कार्यक्रम दोनों को मानते हैं। पहले प्रकार के लोगों की तो यह आलोचना होती है कि वे गांधी के नाम की दुहाई देते रहते हैं, परन्तु उनके काम की परवाह नहीं करते। अतः या तो वे झूठे हैं या कमज़ोर हैं, जो गांधीजी के नाम का सहारा लेकर अपनी गाड़ी चलाते रहते हैं। दूसरे प्रकार के लोगों पर यह आक्षेप होता है कि ये मूढ़ की तरह गांधीजी की लकीर पीटते हैं। इनमें न तेजस्विता है, न गतिशीलता, न गांधीजी की समय-सूचकता, न व्यापक तथा उदार दृष्टि-विन्दु। आपस में भी ये एक साथ कन्धा मिलाकर नहीं चल सकते—कोई किधर जाता है तो कोई किधर। यह बात नहीं कि इन आलोचनाओं का कोई उत्तर नहीं है, या नहीं दिया जा सकता है; परन्तु इसमें भी कोई शक नहीं कि इनमें सार भी है। हम इनके उत्तर की झंझट में न पड़कर इसमें से सार ग्रहण करेंगे, और इनसे लाभ उठावेंगे तो इनका उत्तर विना दिये ही अपने-आप मिल जायगा। यह उत्तर हमें ज़बान से नहीं, अपने कार्य व व्यवहार से देना होगा। वही सच्चा विश्वासदायक उत्तर होगा।

गांधीजी के उत्तराधिकारी दो विभागों में बंट गए—

एक ने प्रत्यक्ष राजनीति व शासन का भार लिया, दूसरे ने नैतिकता व रचनात्मक कार्यक्रम को संभाला। वापू के समय में भी ऐसे दो विभाग वने हुए थे—वापू दोनों का संचालन, मार्गदर्शन, नियमन करते थे, परन्तु शासन की व शान्ति-रक्षा की प्रत्यक्ष ज़िम्मेदारी आ जाने के कारण, खासकर वापू के अभाव में, आज वे जितने स्पष्ट व पृथक्-से हो गए हैं, उतने पहले नहीं थे। भले ही अधिक स्पष्ट हो गए हों, परन्तु वापू के वाद परिणाम यह होना चाहिए था कि शासनात्मक व रचनात्मक दोनों विभाग एक-दूसरे के पूरक होकर परस्पर सहयोग से एक-दूसरे के पोषक बनते, शक्ति बढ़ाते, परन्तु वे आज एक-दूसरे के आलोचक से बनते जा रहे हैं। एक-जीवता के वजाय जैसे विजातीयता आ रही हो, इसमें कहीं-न-कहीं भूल हो रही है।

दूसरे, 'शासन' में, सत्ता में, फिर भी हमारे नेता किसी तरह एक साथ चल रहे हैं, परन्तु 'सेवा' में हम लोग संगठित रूप से चल नहीं पा रहे हैं। सत्ता का क्षेत्र झगड़ों व रागद्वेष का अखाड़ा है, जवकि सेवा का क्षेत्र स्वभावतः एकता का पोषक है। तो क्या सत्ता-क्षेत्र में हमने जो सफलता पाई है, वह सेवा-क्षेत्र में भी पाई है? यह शोचनीय है। अतः अव हमें दुहरी खाई को पाटना है। वैसे, जो नैतिक क्षेत्र में उत्तराधिकारी हैं, उनपर नैतिक गुणों व शक्तियों के उत्तम प्रदर्शन का अधिक भार है, परन्तु सत्ता-क्षेत्र के नेता आज जिस एकता के गुणों का परिचय दे रहे हैं, क्या वैसा ही सेवा-क्षेत्र के नेता भी दे रहे हैं? इस क्षति की पूर्त्ति हमें शीघ्र ही कर लेनी है। इसका उपाय तो हमने किया है—सर्व-सेवा-संघ वना करके। यदि वह सजीव तथा कार्यरूप वन जाय तो रचनात्मक क्षेत्रों का संघटन दृढ़ हो सकता है,

इसमें सन्देह नहीं। इसके वाद ही सत्ता व सेवा दोनों के नेताओं में एक-जीवता लाना अधिक सुगम होगा।

वापू सेवा के रचनात्मक-कार्यक्रमों के साथ प्रासंगिक व तात्कालिक विशिष्ट सेवाकार्यों में भी जुट पड़ते थे—जैसे मानवी उपद्रव, प्राकृतिक संकट, रोग-प्रकोप आदि कालीन सेवाएं। इसके लिए शान्ति-सेना के संगठन का आयोजन वहुत समयोपयोगी व उपयुक्त है। सर्वोदय के अन्त में तो सेना-संगठन, 'शासन' सव निरर्थक हो जानेवाले हैं, परन्तु सर्वोदय को लाने के लिए प्रारंभ में सेवात्मक—रक्षात्मक संगठनों की आवश्यकता रहेगी—लोगों में अनुशासन, सहनशीलता, नियम-पालन, आदि सामूहिक जीवन के योग्य गुणों का विकास करने के लिए।

यह सव तो हमारे किये हो सकेगा, परन्तु वापू के अभाव में उनके सामंजस्य-वल, समन्वय–शक्ति की पूर्त्ति कौन करे? सेवात्मक व सत्तात्मक दोनों विभागों के समस्त तत्त्वों को मिलाकर एक साथ कौन ले चले? यदि देश को एकता के मार्ग पर चलना है, तो यह गुण व शक्ति उसमें आनी ही पड़ेगी। एक महान व्यक्ति ऐसा न निकलेगा तो नेताओं के संगठित, सम्मिलित नेतृत्व (हाई कमांड) द्वारा यह उद्देश्य सिद्ध होगा।

: २४ :

तो हम क्या करें ?

जो आज़ादी हमें आज मिली है, वह यद्यपि अधिकांश में अहिंसा-वल से, जिसे अव महात्माजी मन्दवल कहने लगे थे, मिली है, तो भी उसके मिलने से ज़ाहिरा तौर पर अहिंसा को एक गहरा धक्का लगा है। कांग्रेस के नेताओं को प्रान्तों में व केन्द्र में शासन-सत्ता संभालनी पड़ी, जिसमें आज फौज व पुलिस का सहारा लेना ज़रूरी है। इधर पाकिस्तान व हिन्दुस्तान के बंटवारे को लेकर लोगों में भी आपस में भीषण व अमानुप हिंसा फूट निकली। दोनों का परिणाम महात्माजी के हृदय पर यह हुआ कि वह मानने लगे—'रामराज्य' की स्थापना के ये लक्षण नहीं हैं। किसी मित्र ने मुझसे कहा था कि एक वार इसी सिलसिले में उन्होंने किसी से कहा था—ऐसा जान पड़ता है, जो मसाला मुझे मिला, वह स्वराज्य-प्राप्ति के लिए तो ठीक व काफ़ी था, परन्तु 'रामराज्य' की स्थापना इस मसाले से शायद न हो। इसके लिए मुझे एक और जन्म तक इन्तज़ार करना पड़ेगा।

अब वह चले गए। वह अपने जीवन में सत्य या ईश्वर को प्रत्यक्ष देखना चाहते थे। मोक्ष उन्हें ज्यादा लुभावना नही मालूम होता था। उनकी साध थी :

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्।

यह अभिलाषा 'रामराज्य' की स्थापना से ही पूर्ण हो सकती थी। इस साध को लेकर वह मरे। अतः मेरा तो विश्वास है कि उसकी

पूर्त्ति के लिए वह फिर कहीं जन्म लेंगे। उनका राम-राज्य केवल हिन्दुस्तान के लिए नहीं था। हिन्दुस्तान तो उनके प्रयोगों का एक स्वाभाविक क्षेत्र उनके लिए वन गया था। अतः यह भी हो सकता है कि उनका जन्म भी किसी दूसरे देश में हो। एक वार उन्होंने कहा भी था कि कभी-कभी मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि संभव है दुनिया का कोई दूसरा देश मेरे अहिंसा-सन्देश को हिन्दुस्तान से भी ज़्यादा व जल्दी अपना ले। उनकी आत्मा अपनी अतृप्त इच्छा के संस्कारों को लेकर जो भी करे, उससे हमारी ज़िम्मेदारी कम नहीं हो जाती। उसकी तरफ देखते हुए हम अपने कर्तव्यों में शिथिल नहीं हो सकते।

तो हम क्या करें? 'राम-राज्य' की स्थापना के लिए जो उनका अवशिष्ट कार्य है, उसके लिए हमें क्या करना चाहिए? हमारी वर्तमान सरकार के नेताओं ने प्रतिज्ञा की है व एलान किया है कि हम महात्माजी के वताये रास्ते पर चलेंगे। उनका रास्ता तो सत्य व अहिंसा का था, जो कि राम-राज्य के भी पाये हैं। अतः हमारा पहला काम तो हुआ अपने व समाज के जीवन में सत्य व अहिंसा का प्रकाश व प्रवेशन। ऊपर सरकार की ओर से व नीचे जन-संस्थाओं की ओर से।

सत्य व अहिंसा कोरे आध्यात्मिक तत्त्व नहीं हैं। व्यवहार में भी जिस अंश तक हम उनका पालन करते हैं, हम समाज-जीवन को सुगम, शान्तिमय व उन्नतिशील वनाते हैं। सत्य का अर्थ है हमारे पारस्परिक व्यवहार में एक दूसरे के प्रति सचाई हो; दग़ा, विश्वासघात, कुटिलता न हो। अहिंसा का अर्थ है, हम एक-दूसरे के साथ सद्भावना, सहयोग, समभाव या आदर से रहें। यदि व्यक्ति का व समाज का जीवन ऐसा बन

जाय, तो फिर सेना व पुलिस अर्थात शस्त्र-शक्ति की कम-से-कम आवश्यकता रहेगी। यह हमारे शिक्षा-क्रम व शिक्षा-विधि में परिवर्तन करने से सिद्ध हो सकता है।

प्राणदान की आवश्यकता

गांधीजी ने सत्याग्रह के शस्त्र से काम लेकर न केवल भारत को स्वतन्त्र कराया, वल्कि भावी समाज-निर्माण के लिए 'सर्वोदय' का आदर्श भी हमारे सामने रखा। अब हमारा काम एक तो यह है कि प्राप्त स्वतन्त्रता की हम अच्छी तरह रक्षा करें और दूसरा यह कि सर्वोदय के आदर्श को सामने रखकर समाज का नवनिर्माण करें। सर्वोदय के आदर्श में मुख्य बात यह है कि समाज में किसी प्रकार की हिंसा-प्रणालियां प्रचलित न रहें, उसका आधार शान्तिमय प्रणालियों पर रहे। अन्ततोगत्वा समाज में से हिंसा विल्कुल निकल जाय। आज समाज में व्यापक हिंसात्मक प्रवृत्तियों को रोकने के दो ही उपाय हैं—एक तो यह है कि शिक्षा, प्रचार, उपदेश, निजी आचरण के द्वारा लोगों में शान्ति के संस्कार डाले जायं और पंच-फ़ैसला आदि जैसी शान्तिमय प्रणालियां प्रचलित करके समाज-जीवन में शान्ति की प्रतिष्ठा की जाय। दूसरा यह कि देश और समाज की उपद्रवी और हिंसात्मक शक्तियों और तत्त्वों का शान्तिपूर्ण साधनों से प्रत्यक्ष मुकावला किया जाय।

वापू ने वुनियादी तालीम, खादी, अस्पृश्यता-निवारण, राष्ट्रीय एकता इत्यादि रचनात्मक कार्यक्रमों के द्वारा सर्वोदय के वुनियादी कामों की नींव डाली, जिसमें भू-दान आदि कार्यक्रम जोड़कर पूज्य विनोवाजी ने एक सजीव रचनात्मक वातावरण

उत्पन्न किया है। कांग्रेस तथा दूसरी संस्थाओं और दलों ने भी उसमें सहयोग देकर उसको आगे बढ़ाया है। हमारे प्यारे नेता जवाहरलालजी ने पंचशील के द्वारा विदेशों में और सारे संसार में शान्तिमय वातावरण पैदा किया। ये सब बुनियादी काम अपने ढंग से ठीक और तेज़ी के साथ हो रहे हैं, परन्तु उसके दूसरे अंग का, जो अशान्ति फैलाने और उपद्रव करने-करानेवाले तत्त्वों और समूहों का शान्ति के साथ मुकाबला करने से सम्बन्ध रखता है, कोई आयोजन अभी नहीं बन पाया है। उसकी नितान्त आवश्यकता है। आए दिन के उपद्रवों और उनसे होनेवाली हानि और अपमान और उसके जवाब में पुलिस के गोलीकांड को रोकने के लिए सरकारी और ग़ैरसरकारी दोनों स्तरों पर कुछ कार्रवाई करने की ज़रूरत है। सरकारी स्तर पर तो फिलहाल मौजूदा पुलिस के साथ एक निवारक पुलिस-दल बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है, और ग़ैरसरकारी स्तर पर जगह-जगह शान्ति-दलों की स्थापना तुरन्त होनी चाहिए, जो निवारक काम भी करें और उपद्रवों के घटनास्थल पर पहुंच कर प्रत्यक्ष उपद्रवी तत्त्वों का शान्तिमय तरीके से मुकाबला करें और उसमें अगर जान भी देनी पड़े, तो देने की तैयारी करें। अनशन के द्वारा उपद्रवों की लहर को रोकने की आवश्यकता हो तो उसका भी प्रयोग करें। मैं समझता हूं कि अब वह समय आ गया है कि हम केवल भूमि-दान और ग्राम-दान से ही संतुष्ट न हो जायं, बल्कि देश की भीतरी शान्ति की रक्षा के लिए आवश्यकतानुसार अपने प्राण-दान भी दें। पूज्य बापू के जन्मदिन पर आज हम इस बात का विचार और संकल्प क्यों न करें?

हिंसा और अहिंसा की समस्या

कितनी ही वातें ऐसी हैं, जिनका सम्वन्ध हृदय के विकास से, अथवा मन की वृत्तियों के सुसंस्कारों से जितना है, उतना बुद्धि-वैभव से नहीं, जैसे—सत्य, अहिंसा अथवा प्रेम, ये वातें ऐसी हैं, जिन्हें दलील या बुद्धि के चमत्कार के द्वारा कोई किसी को अच्छी तरह नहीं समझा सकता। जिन्होंने इनको अपने जीवन का धर्म वना लिया है, जो इनके अनुसार जीने का प्रयत्न करते हैं, उनको विना दलील के ही इनके लाभों का आनंद और सुख मिलता रहता है और ऊपर-ऊपर देखने से जो हानि या महासंकट मालूम होता है, उससे वे विचलित नहीं होते। यदि शक्कर की मिठास कोई किसी को समझाने लगे तो यह जिस प्रकार कठिन है, उसी प्रकार उससे वढ़कर कठिन है—सत्य, प्रेम या अहिंसा के मर्म और स्वाद को समझा देना। फिर जैसे-जैसे मनुष्य की गति इनमें होती जाती है और वह जैसे-जैसे इनके अनुभव में आगे वढ़ता जाता है, तैसे-तैसे इनके रूप के सम्वन्ध में उनकी धारणाएं अधिक व्यापक, सूक्ष्म और गहरी होती चली जाती हैं और उन तमाम अवस्थाओं को पाठकों के सामने खोलकर रख देना मनुष्य की वाणी और लेखनी की मर्यादा और शक्ति के वाहर हो जाता है। फिर भी बुद्धि-प्रधान मनुष्य तो उन्हें बुद्धि ही के द्वारा समझने की चेष्टा करता है और समझाने वाला भी उन्हें अपनी बुद्धि के ही अनुसार समझा

सकता है। वह यदि इसमें पूर्ण सफल नहीं होता है तो यह सत्य, अहिंसा या प्रेम का दोष नहीं है, इनके गुण, महत्ता या सौन्दर्य की कमी नहीं है, बल्कि मनुष्य के अपने सामर्थ्य की मर्यादा का सूचक है। अस्तु।

सत्याग्रह आश्रम साबरमती में एक रोग-पीड़ित महा-व्याकुल गाय के बछड़े को ज़हर की पिचकारी लगाकर मार डालने के प्रश्न पर हिंसा-अहिंसा का भारी विवाद छिड़ गया है। इस सम्बन्ध में महात्माजी ने अपने जो विचार प्रदर्शित किये हैं, उन्हें सुनकर कितने ही अहिंसावादी भी बड़े चक्कर में पड़ गए हैं, अहिंसा सम्बन्धी उनकी पुरानी धारणाओं को गहरा धक्का पहुंचा है और महात्माजी के फलितार्थ उनकी समझ में ठीक-ठीक नहीं आ रहे हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक है। महात्माजी तो उन पुरुषों में हैं, जो अपनी धारणा के अनुसार अपने विचारों को निःसंकोच और निर्भय होकर प्रकाशित करते हैं और उनमें ग़लती मालूम होने पर एक बच्चे की सरलता के साथ तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे व्यक्ति के प्रति रोष और कटूक्तियों से काम लेने में कोई लाभ नहीं है। उन्हें तो अपने विचारों और युक्तियों से अपने मन्तव्यों की सत्यता समझाने की चेष्टा करनी चाहिए।

वर्तमान विवाद में समझ लेने लायक बातें सिर्फ दो हैं: १. अहिंसा का मूल और वास्तविक स्वरूप क्या है; २. प्राण-हरण का अहिंसा में स्थान है अथवा नहीं है, तो कितना और किन-किन अवस्थाओं में? कुछ मित्रों ने इसके सम्बन्ध में मुझे भी लिखा है, मुझसे चर्चा की है और एकाध पत्र ने मेरा ज़िक्र भी किया है, अतएव इस सम्बन्ध में अपनी धारणा प्रकट करना

मेरा कर्तव्य हो जाता है। दूसरे पाठकों को भी इस विवाद से लाभ पहुंचाना मेरा कर्तव्य है।

मेरी समझ में अहिंसा की सीधी व्याख्या यह है कि अपने स्वार्थ-साधन के लिए किसी भी मनुष्य या प्राणी को मन, वचन या कर्म से कष्ट न पहुंचाना; मनुष्यता और पशुता में मानव-भाव और पशु-भाव में मैंने यही विभाजक रेखा, यही मर्यादा समझी है। अर्थात मेरी दृष्टि में वह व्यक्ति उतना ही अधिक मनुष्य है, उसमें उतना ही अधिक मानव-भाव है, जितना अधिक वह अपने लाभ व सुख के लिए दूसरे को कष्ट न पहुंचाता हो और वह उतना ही अधिक पशु है या उसमें उतना ही अधिक पशु-भाव विद्यमान है, जितना कि वह अपने लिए दूसरों को कष्ट पहुंचाता हो। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अहिंसा के लिए दो शर्तें अनिवार्य हैं:

(१) अपना या अपने समाज का स्वार्थ न हो और

(२) किसी प्राणी के शरीर, मन या आत्मा को कष्ट न पहुंचाता हो।

बछड़े को ज़हर देने में अहिंसा की इन दोनों शर्तों का पूरा-पूरा पालन हो जाता है—१. उसके मारने में महात्माजी का या आश्रम-वासियों का कोई स्वार्थ-भाव नहीं था और २. न केवल उसके शरीर, बल्कि मन या आत्मा को भी कष्ट नहीं पहुंचाया गया, बल्कि उसके कष्ट की वेदना और व्याकुलता का अन्त कर दिया गया, उल्टा उसे सुख पहुंचाया गया।

अब रहा यह प्रश्न कि आखिर यह प्राण-हरण तो हुआ ही। और आगे चलकर यह कहा जाता है कि प्राण-हरण से बढ़कर कष्ट और हिंसा दूसरी क्या हो सकती है? यहां हमको

यह सोचना चाहिए कि अहिंसा के लिए जिस मूल-स्वरूप को मान कर हम चले हैं, वह हमें कहां ले जाता है। क्षणभर के लिए हम इस बात को भूल जायं कि आजतक हम अहिंसा के नाम पर किसी चीज को मानते चले आये हैं और उसके सम्बन्ध में किस ग्रन्थ में क्या लिखा है। अहिंसा में मुख्य बात है कष्ट न पहुचाने की। अब यदि प्राण रखने से कष्ट अधिक पहुंच रहा है और प्राणनाश से कष्ट का अन्त हो जाता है तो एक अहिंसक की अन्तरात्मा ऐसे समय क्या कहेगी और उसे क्या करने की प्रेरणा करेगी? उत्तर स्पष्ट है, जिससे कष्ट का अन्त हो, वही करो, और यही महात्माजी ने किया है।

इस पर यह कहा जाता है कि प्राण-हरण स्वयं ही एक महा कष्ट देने की क्रिया है, अतएव घोर हिंसा है। इस पर महात्माजी का कहना यह है कि मृत्यु तो, जन्म की तरह, प्रकृति का एक सामान्य नियम है। हम, भारतवासियों ने, ख्वामख्वाह उसे एक हौवा बना रखा है। हां, अपने या अपने समाज के लाभ के लिए जब किसी का प्राण-हरण या जीवन-नाश किया जाता है, तब वह दोष अवश्य है और तब वह हिंसा ज़रूर है। पर यदि उस प्राणी के लाभ के लिए, उसकी पीड़ा दूर करने के लिए प्राण-हरण किया हो तो वह अहिंसा है, यदि हमारे अपने लाभ के लिए किया गया हो तो वह हिंसा है। हिंसा और अहिंसा का निर्णय करते समय हमें सदा—सर्वदा यह बात अपने ध्यान में रखनी चाहिए कि यह हम किसके स्वार्थ या लाभ के लिए कर रहे हैं।

यहां शंकाकार कहते हैं कि फिर तो अहिंसा में कृति नहीं, भावना ही सबकुछ रही, और जब भावना की ही शुद्धि का

विचार हैं, तब समाज को कष्ट पहुंचानेवाले पशुओं और आततायी मनुष्यों का वध करना क्योंकर हिंसा कहा जा सकता है, जबकि भावना बिल्कुल शुद्ध है और जबकि लोकहित ही हमारा परम उद्देश्य है ? इसका उत्तर यह है कि अहिंसा में भावना की शुद्धि तो सर्वत्र अनिवार्य है और भावना-शुद्धि का अर्थ लोक-हित नहीं, बल्कि वध्य माने जानेवाले प्राणी को कष्ट न देनें का भाव है। भाव-शुद्धि के साथ कृति भी अहिंसक होनी चाहिए। कृति की शुद्धता भी उतनी ही आवश्यक है, जितनी कि भाव की शुद्धता। मार डालने की क्रिया, आजतक की धारणा के अनुसार शुद्धता की परिभाषा में नहीं आ सकती। तो यदि आजकल की धारणा को ही निर्भ्रम और ठीक मान लें तो फिर यह कह सकते हैं कि सिर्फ ऐसे ही प्रसंगों पर कृति की अशुद्धता अपवाद मानी जा सकती है, क्योंकि अहिंसा के मूल स्वरूप के अनुसार वह हिंसा नहीं कही जा सकती। अब यह दूसरी बात है कि हिंसा के एक दोष के होते हुए भी हमें, जबतक ज़िंदगी है, लाचार होकर, कई तरह की हिंसा करनी पड़ती है। पर इसीलिए हम उसे अहिंसा या निर्दोष नहीं कह सकते। हां, क्षम्य और अक्षम्य हिंसा ये दो भाग तो किये जा सकते हैं, पर हिंसा अहिंसा में किसी प्रकार नहीं खप सकती।

इसी तरह समाज के लाभ के लिए यदि किसी पशु या मनुष्य का वध करना, या उसे कष्ट पहुंचाना अनिवार्य हो गया हो तो उसे हम क्षम्य कोटि की हिंसा गिन लें, यह तो शायद हो सकता है, पर उसे अहिंसा तो किसी तरह नहीं कह सकते। फिर सामाजिक दृष्टि से पशु-वध से मनुष्य-वध ज़्यादा भयंकर और ज़्यादा सदोष है, क्योंकि मनुष्य बुद्धिमान और हृदयवान

है, इसलिए अनेक प्रकार के प्रभावों का असर उस पर हो सकता है और फलस्वरूप उसके सुधार की बहुत आशा रखी जा सकती है। अतएव अहिंसा में कोरी भावना-शुद्धि को अपने मतलब की बात समझकर यदि कोई भाई उससे समाज की रक्षा के लिए मनुष्य-वध को जायज़ और अहिंसात्मक मानने और समझने लगे तो मेरी राय में वह अपनी समझ के साथ अन्याय करेगा और आत्म-वंचना के दोष से लिप्त होगा।

अतः हम उतावले और आपे-से बाहर होकर नहीं, धीरज और शान्ति के साथ पूर्व निश्चित धारणाओं से मुक्त होकर, महात्माजी की युक्तियों पर विचार करें। उनमें हमको बहुत बल दिखाई देगा।

: २७ :

बापू होते तो ?

वैसे तो एक हलके में यह महसूस हो रहा है कि हमने बापू को भुला दिया और जैसे २५०० वर्ष बाद भगवान बुद्ध अब जीवित हुए, वैसे ही सैकड़ों वर्षों के बाद लोगों को गांधीजी की, सही माने में, याद आवेगी। फिर भी चीन के हमले के बाद सबको, अलग-अलग तरह से, बापू की याद आ रही है। किसी ने कहा—साहस, हौसला, हिम्मत, हमें बापू ने सिखाई—जिसकी आज सबसे ज्यादा ज़रूरत है। किसी ने कहा—निर्भयता बापू की सबसे बड़ी देन है। अहिंसा का पाठ उन्होंने पढ़ाया ज़रूर, परन्तु वह निर्भयता, अभय, अहिंसा की पहली सीढ़ी है। किसी ने बताया—बापू होते तो कश्मीर की तरह चीन के मुकाबले में सेना और शस्त्र के प्रयोग का समर्थन करते। कुछ अहिंसावादी सोचते हैं कि बापू कोई-न-कोई नया मार्ग ज़रूर सुझाते। अभी एक शान्ति या मैत्री यात्री-दल एक मार्च को दिल्ली से पेकिंग रवाना हुआ है। उसकी तरह का उससे भी आगे का कोई कदम उठाते। वह शान्त या चुप नहीं बैठे रहते। अलग-अलग लोगों का जो कुछ कहना हो, वह आंशिक रूप में सही हो या गलत; बापू की याद किसी-न-किसी रूप में सबको आई। और चाहे मन का समाधान न हुआ हो, पर हरएक के दिल में यह सवाल ज़रूर उठा है, उठता है कि बापू होते तो क्या करते ? इस विषय पर विचार करना मुझे आवश्यक और उपयोगी मालूम होता है।

अव्वल तो इस तरह सोचना ठीक नहीं है कि कोई इस समय होता तो क्या करता, क्योंकि कोई कदम उठाने से पहले जितने पहलुओं से सोचना पड़ता है, उसका अन्दाज़ सही-सही लगाना मुश्किल है। फिर व्यक्ति-विशेष किस परिस्थिति में क्या सोचेगा, किस बात को कितना वज़न देगा, कितना नापसंद करेगा—यह कहना बहुत कठिन है। खुद हम भी अपने लिए यह ठीक-ठीक निर्णय नहीं कर सकते कि अमुक परिस्थिति में हम होते या हों, तो क्या करते—या करेंगे ? अलबत्ता, हर शख्स के सोचने के, तौलने के कुछ तरीके होते हैं, कुछ अन्दाज़ होते हैं, रुचि, अरुचि, स्वभाव-संस्कार, साधना जानकारी कई बातें ऐसी होती हैं कि जिनको मिलाकर ही कोई कदम उठाया जा सकता है। अतः हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि महात्माजी होते तो इस समय क्या करते या क्या सलाह देते ? अलबत्ते, हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वह जो कुछ भी कहते या करते, वह सत्य और अहिंसा की व्याख्या और सीमा के अन्दर ही होता। महात्माजी भी सत्य और अहिसा को मानते थे, विनोबा भी मानते हैं और जवाहरलालजी भी अपने ढंग से मानते हैं। तीनों इस बात से तो सहमत होंगे कि हम जो कुछ करें, वह हमारे मान्य सिद्धान्तों, आदर्शों और मूल्यों के अनुकूल हो—प्रतिकूल न हो। और चीन के मामले में जो कुछ किया गया है, वह इन मूल्यों को सामने रखकर ही किया गया है—इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है।

तो आप पूछेंगे कि क्या सेना और शस्त्र से मुकाबला करना अहिंसा के अन्तर्गत है ? इसका उत्तर देते हुए अहिंसा सिद्धान्त और अहिसा नीति पर थोड़ा विचार कर लेना अच्छा होगा।

सिद्धांत और आदर्श के रूप में अहिंसा का अर्थ है—मन, वचन, और काम से किसी को कष्ट न पहुंचाना—मारना तो दूर की बात है। परन्तु इस आदर्श अहिंसा का दावा तो स्वयं महात्माजी ने भी अपने लिए नहीं किया। ऐतिहासिक काल में बुद्ध से भी बढ़कर ऐसी साधना महावीर के जीवन में अलबत्ते मिलती है। लेकिन यह भी व्यक्तिगत साधना की बात हुई। राष्ट्रीय समस्या कोई किसी एक या दो व्यक्ति की परम साधना के बल पर नहीं सुलझाई जा सकती। यह देखना होगा कि सारे राष्ट्र में अहिंसा की सिद्धि कितनी हो पाई। यदि चीन का मुकाबला करना है तो अकेले महात्माजी की, विनोबाजी की या जवाहरलालजी की या दूसरे किसी महापुरुष की अपनी अहिंसा-साधना से ही काम नहीं चल सकता था—सारे देश का वातावरण अहिंसा से ओतप्रोत होने की आवश्यकता थी—जैसा कि आज शस्त्र और सेना के द्वारा मुकाबला करने के लिए सारा देश, देश का बच्चा-बच्चा तैयार हो गया है।

यह अहिंसात्मक तैयारी क्यों नहीं हो पाई ? एक तो यह मानव-जाति के विकास का सवाल है—साधना और संगठन की अपेक्षा रखता है। बापूजी यदि रहते और शान्ति-सेना जैसी चीज पर कटिबद्ध हो जाते तो कुछ आशा हो सकती थी। अब विनोबा ने ज़रूर शान्ति-सेना का उपक्रम शुरू किया है, इधर जवाहरलालजी ने भी जहां एक ओर शान्तिसेना जैसी चीज को बढ़ावा दिया, तो वहां शस्त्र-सेना भी तो नहीं बढ़ाई। विकास के कामों में ही सारी शक्ति लगाई। इधर पंचशील के प्रचार के द्वारा विश्व में सैन्य शक्ति कम करने, शस्त्र कम करने या न रखने की दिशा में अहर्निश प्रयत्न किया और एक ऐसी हवा

पैदा हुई, जिसमें कैनेडी और ख्रुश्चेव दोनों आये दिन इसी दिशा में सोचने और कुछ करने के लिए प्रयत्नशील हैं, यहां तक कि संसार में स्पष्ट रूप से दो विचारधाराएं बन गईं---एक तो शान्तिवादी, जैसे ख्रुश्चेव और कैनेडी आदि। दूसरी शस्त्र-सैन्यवादी, जैसे चीन। अभी चीन ने जो भारत पर विश्वास-घाती हमला किया, उसपर विश्व के राष्ट्रों ने जो अपनी प्रतिक्रिया दिखाई, वह साबित करती है कि अधिकांश भूभाग के लोग निःशस्त्रीकरण को---अर्थात शान्तिवाद को पसन्द करते हैं। मैं तो समझता हूं कि आगे-पीछे चीन को भी यह स्थिति स्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ेगा, इसलिए कि मनुष्य मूलरूप से शान्तिप्रिय है। वह अशान्ति, कलह, संघर्ष, शस्त्र का आश्रय मजबूरी की हालत में ही लेता है। जो हो, सार यह है कि यद्यपि शस्त्र-सेना की तरह संसार में अभी शान्ति सेना की प्रतिष्ठा नहीं हुई है, तो भी सारा वातावरण शान्ति के पक्ष में है। सब लोग मानने लगे हैं कि सशस्त्र युद्ध से जय-पराजय हो सकती है, परन्तु न्याय नहीं हो सकता, प्रश्न नहीं सुलझ सकते। प्रश्न और समस्या तो बातचीत, समझौता, विचार-विनिमय के द्वारा ही भलीभांति हल हो सकते हैं। पं० जवाहरलालजी ने भी कई बार कहा है, और सच कहा है कि मैं मुख्य रूप से शान्ति-प्रिय हूं। भारत शान्ति चाहता है, चीन ने यह संघर्ष हमारे सिर, ज़बरदस्ती थोप दिया है, हमें सशस्त्र, ससैन्य मुकाबला करने के लिए मजबूर कर दिया है।

हाल ही में उन्होंने राज्य-सभा में कहा है---"चीन के हमले की वजह से अपने मूल विश्वासों में हमारी आस्था नहीं डिगी है। हम अब भी शान्ति, समाजवाद और सैनिक गुटों से अलग रहने

में विश्वास रखते हैं। आज के संकट के समय इन मूल बातों पर विश्वास रखना और भी ज़रूरी है। अगर हम इन सिद्धान्तों को चीन के दबाव में आकर छोड़ देंगे तो वह ग़लत काम होगा। और ग़लती के आगे झुक जाना होगा—चीन का मुकाबला करने में हम अपने सिद्धांतों को नहीं छोड़ेंगे।—श्री कैनेडी और ख्रुश्चेव दोनों ही शान्ति के लिए प्रयत्नशील हैं।"

यह दिखलाता है—चीन की हरकतों के फलस्वरूप—सारे विश्व में यह बात प्रकट हो गई है कि संसार सत्याग्रह की ओर जा रहा है—अर्थात सत्य और न्याय के पक्ष में अपनी आवाज़ बुलन्द करता है और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों, विवादों, झगड़ों का निपटारा शस्त्र से नहीं, शान्ति से, विचार-विनिमय से करना चाहता है। मैं समझता हूं कि यह बापू की उनके सत्याग्रह की—शान्तिवाद की विजय है—यद्यपि ऊपर-ऊपर से ऐसा नहीं दिखाई देता हो।

१९६४

: १ :

बापू की महिमाएं

बापू के बलिदान के बाद यह स्वाभाविक था कि हिन्दुस्तान में ही नहीं, सारे संसार में उनके प्रति भक्ति-भाव की बाढ़ उमड़ती। संसार की ऐसी अद्वितीय शक्ति के एकाएक तिरोहित हो जाने से जहां उसके प्रति वफ़ादारी की भावनाएं जागीं, वहां एक महान अन्धकार-सा—शून्य-सा—भी दिखाई दिया। दोनों का यह परिणाम हुआ कि लोगों की सुप्त या गुप्त सरस्वती सहस्र मुख से उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने लगी—इस निमित्त उत्तम ज्ञान, स्फूर्ति, प्रकाश का सजीव साहित्य निर्मित होने लगा। जो बापू के अत्यन्त घनिष्ट, निकटवर्ती थे, उन्होंने बापू के माहात्म्य व रहस्य को खोलना शुरू किया। मेरा ख़याल है, भारत में शायद हिन्दी को ही यह गौरव प्राप्त हुआ है कि वह 'बापू' पर इतनी जल्दी अधिक-से-अधिक पुस्तकें प्रकाशित कर सकी। इस समय मेरे सामने सात पुस्तकें हैं, जिनमें तीन बापू के कुटुम्बी, उनके दाएं-बाएं-हाथ-जैसों की लिखी हुई हैं व उनकी प्रिय प्रसिद्ध व आदि प्रकाशन-संस्था नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद से प्रकाशित हुई हैं, जिसने अब हिन्दी प्रकाशन भी जोरों से शुरू कर दिया है। एक है—महादेव भाई की डायरी, दूसरी है—काका साहब कालेलकर की 'बापू की झांकियां', तीसरी है—कुमारी मनुबहन की 'बापू—मेरी मां'। महादेव भाई को बापू का सवाई कहें, तुलसीदास कहें, व्यास कहें, या हनुमान

कहें; बापू के साथियों या कुटुम्बियों में उनका अनुपम स्थान है। वह बापू की सजीव साकार भक्ति थे। हनुमान जैसे मणिमाला की मणियों में राम को खोज रहे थे, उसी तरह बापू महादेव भाई के रोम-रोम में व्याप्त थे। यह डायरी उनके अपने आराध्य-देव की पूजा-जैसी है। इसका एक-एक पृष्ठ, एक-एक वाक्य नित्यपाठ करने योग्य है। इसके चरित्र-नायक यद्यपि बापू हैं, तथापि महादेव भाई इसमें पुष्प में सुगन्ध की तरह समाये हुए हैं। इसमें बापू का केवल यह सिद्धान्त ही नहीं मिलेगा कि 'सत्य ही परमेश्वर है', बल्कि यह ज्ञान भी परिपूरित मिलेगा कि 'सर्व भूतहित' अर्थात अहिंसा के विना उसकी उपलब्धि असंभव है। इस ज्ञान व आदर्श की उनकी साधना कठोर, जाग्रत, सविस्तर, गंभीर, सूक्ष्म, और उनकी तपस्या, कार्यक्रम को अमल में लाने की लगन, दैनिक आचार में अद्भुत तत्परता भी इसके पन्ने-पन्ने से टपकती है। इस तरह बापू का सर्वांगीण जीवन, सम्पूर्ण ज्ञान व चरित्र की यह देन महादेव भाई ने हमें दी है, जिसके लिए हम उनसे कदापि उऋण नहीं हो सकते।

इसमें हमारे सरदार का भी नारियल की तरह कठोर व भीतर से सरस जीवन बड़े स्वाभाविक ढंग से खिल गया है। सरदार-जी की तीखी जबान, कड़े स्वभाव की कठोरता से सब डरते हैं, परन्तु माता की ममता, व भक्त की नम्रता, शिष्य की साधना का जो दर्शन इस डायरी में होता है, वह 'शिव' के रुद्र व मंगल स्वरूप की याद दिलाता है।

दूसरी पुस्तक है 'बापू की झांकियां'। काका साहब बापू के जाग्रत व पुराने साथी हैं। उनकी भूमिका शिक्षक की, उपदेशक

की, प्रचारक की रही है। साहित्य, कला, राष्ट्रीय शिक्षण उनके मुख्य माध्यम रहे हैं। लेखन-कला के वह आचार्य हैं, खासकर बापू के राष्ट्रीय शिक्षा, सांस्कृतिक सुधार व राष्ट्रभाषा प्रचार में दाहिने हाथ रहे हैं। पीछे तो बापू पर उनकी ऐसी श्रद्धा हो गई थी कि अपने विचारों का आग्रह छूटकर बापू के विचारों में ही उनके विचार एकरूप हो जाते थे। उनका अध्यापन, भ्रमण, अनुभव बहुत व्यापक व विशाल है। 'बापू की झांकियां' बापू के साथ उनके प्रत्यक्ष अनुभव की ज्ञान-मूर्त्ति है। उनसे बापू के अद्‌भुत एवं करुण-कठोर जीवन के अनेक पहलुओं पर गहरा प्रकाश पड़ता है। बापू-संबंधी अपने संस्मरण या अनुभव औरों ने भी लिखे हैं, परन्तु इनमें गागर में सागर भर गया है। काकासाहब के शब्दों में, "इसमें बापू का सम्पूर्ण दर्शन न हो, पर ये झांकियां बापू तक पहुंचाने की, उनके अन्तस्तल में गहरे गोते लगा पाने की अचूक सीढ़ियां हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।"

दो छोटे-छोटे उदाहरण काकासाहब के शब्दों में ही लीजिये :

"चम्पारन से एक दिन बापू का खत आया। उन दिनों हमारा आश्रम कोचरब में किराये के बंगले में था। खत में लिखा था :

'अब वहां बारिश शुरू हुई होगी। न हुई हो तो जल्दी होगी। अब हवा की दिशा बदल जायगी। इसलिए आजतक जिस गड्‌ढे में पाखाने के डब्बे खाली करते थे, वहां आइंदा न किये जायं, नहीं तो उधर की हवा से बदबू आने की संभावना है। इसलिए पुराने गड्‌ढे पूर दिए जायं और अमुक जगह में नये गड्‌ढे खोदे जायं।'

"इस पत्र को देखकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। बापू चम्पारन में जांच-पड़ताल का काम भी करते हैं और आश्रम की इन छोटी-छोटी बातों की फ़िक्र भी रखते हैं।

"मुझे क्षय रोग हुआ तो मैं स्वास्थ्य लाभ के लिए पूना के पास सिंहगढ़ पर जाकर रहा था। स्वास्थ्य सुधरने पर आश्रम में जाकर रहने लगा। आश्रम में पहुंचे मुझे कुछ देर ही हुई थी कि एक लड़की थाली में अच्छे-अच्छे फूल लेकर आई। कहने लगी, 'ये बापू ने आपके लिए भेजे हैं।' मेरी आंखों में आंसू आ गये। वह आगे बोली, 'बापू ने हमसे कहा है कि काका के पास रोज़ इसी तरह फूल पहुंचाती रहो। काका को फूलों से बड़ा प्रेम है'।"

तीसरी पुस्तक है 'बापू—मेरी मां'। इस नन्हीं-सी पुस्तक की लेखिका नन्हीं मनु बहन गांधी है, बा के न रहने पर जिसकी मां बनने की जिम्मेदारी बापू पर आ पड़ी थी। बापू वैसे 'राष्ट्रपिता' के नाम से प्रसिद्ध थे, पर पिता से अधिक वह 'माता' थे—इसे शायद कम लोग जानते थे। पिता उपयोगिता देखता है, उसके लिए निरपेक्ष रहना कठिन होता है, परन्तु माता आशा-अपेक्षा से दूर, केवल स्नेह, ममता, वात्सल्य की ही वृद्धि करना जानती है। पुत्री मनु ने अपनी मां बापू के कुछ सुन्दर अनुभव इसमें छपाए हैं, जिनसे उनके खाली जीवन के इस पहलू पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पहला प्रयास होने पर भी इन अनुभवों में सजीवता और सरसता लाने में मनुबहन काफी सफल हुई हैं। एक जगह वह लिखती हैं :

"जिस तरह एक मां अपनी बच्ची की परवरिश करती है, उसी तरह बापू ने मुझे पाला था। यों तो उनके पास कई

लड़कियों ने परवरिश पाई है, लेकिन मुझसे तो वह बार-बार कहा करते थे—'मैं तो तुम्हारी मां बन चुका हूं न? वैसे बाप तो बहुतों का बन चुका हूं, लेकिन मां सिर्फ तुम्हारी ही बना हूं'।"

इसके बाद तीन पुस्तकें हैं, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित—जिसे बापू का बढ़िया साहित्य सबसे पहले व अबतक सबसे ज्यादा हिन्दी में प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त है। 'बापू के चरणों में', 'श्रद्धाकण' व 'राष्ट्रपिता'। 'बापू के चरणों' में उनके अनन्य सेवक दिल्ली के चांदीवाला द्वारा ग्रथित अपने २४ वर्षों की स्मृतियों की माला है। इसकी शैली बड़ी सजीव व हृदयाकर्षक है। रोचक इतनी है कि एक बार हाथ में लेने पर छोड़ने को जी नहीं चाहता। यह दिखलाती है कि सुलेखक के लिए ऊपरी लेखन-कौशल या लेखाभ्यास इतना जरूरी नहीं है, जितना भावपूर्ण हृदय और अनुभवों को अन्तस्तल की गहराई से अनुभव करने की शक्ति। ये दो गुण वाणी और लेखनी में अपने-आप चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं। निर्वाण-सन्ध्या तक ये भावनाएं एक-पर-एक ऊंची उड़ान उड़ती हैं, उसके बाद धरती पर पैर जमाकर हमारे लिए काम-काज की—बापू के दैनिक कार्य व व्यवहार की—विविध व शृंखलाबद्ध जानकारी उपस्थित करती हैं—इसमें स्वभावतः ही रोचकता की अपेक्षा उपयोगिता की मात्रा बढ़ गई है। पांच अध्यायों में उन्होंने अनेक जनोपयोगी विषयों का समावेश किया है। वह लिखते हैं, "गांधीजी की महानता, उनकी लोकप्रियता, उनके जीवन की सफलता का रहस्य, उनकी सत्य और न्याय-निष्ठा में, उनकी सतत् जागरूकता में, उनके विश्वप्रेम अथवा

'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना में और उनकी निर्भयता में निहित है। वह एक क्रांतिकारी शोधक और सुधारक थे। वह प्रथम कोटि के सेवक व तपस्वी थे। सत्य को वह ईश्वर मानते थे तथा निर्भय और प्रेम को सत्य-रूपी परमेश्वर को प्राप्त करने के साधन।"

अब 'श्रद्धाकण' का खट-मीठा स्वाद चखें। यह बापू के स्वतन्त्र, सजग, किंचित आलोचक, भक्त बनने से इन्कार करते हुए भी अनन्य साहित्यिक विद्वान, टीकाकार, श्री वियोगी हरि के हृदय के सुन्दर काव्योद्गार हैं। हरिजी ने अपने समर्पण के चुने हुए कुछ शब्दों में 'बापू' का यथार्थ चित्र खींच दिया है—"अंधेरे में भटकती मानवता को, जिसने प्रति क्षण प्रकाश-कण दिखाया, उसी करुणावतार महात्मा के श्री चरण में।" इसमें लेखक ने आंख खोलकर बापू को देखा है और उनके अनुयायियों पर उलाहने की मीठी फुलझड़ियां छोड़ी हैं। हरिजी भले ही इसे 'स्तवन' न कहें, पर सचमुच ही यह रूठने, मचलने व प्रेम के तीखे पुष्पवाण छोड़नेवाले और पिता के सिर की चोटी के वाल नोचनेवाले लाड़ले पुत्र का खट्टा-मीठा स्तवन ही है, जो अपने षट्रस के कारण हृदयग्राही हुआ है। हरिजी के शब्दों में ही तीन चित्र लीजिये :—

बारबार उसने सचेत किया था—
"मैंने क्या-क्या कहा उसके अक्षरों से न चिपट बैठना तुम लोग;
तुम तो अंतर्निहित अर्थ को ग्रहण करना—
और वह भी सत्य के कांटे पर तोल-तोलकर।"

पर उपेक्षा से देखा गया उसकी चेतावनी को,
और वे अनुयायी अक्षरों को ही पकड़कर बैठ गये !
पत्थर को देवता न बनाकर देवता को पत्थर बना देना ही
अनुयायियों का स्वभाव सदा से रहा है क्या ?

× × ×

उसके सिधार जाने के पीछे एक-दो शोकाकुल शिष्यों ने तो
यहां तक कहा—
"वह तो गया—अब किससे पूछें ?
क्या अच्छा हो कि कुछ क्षणों के लिए वह लौट आये,
और बता जाय कि—
उसके इस देह-पिंड का अंतिम संस्कार हम किस विधि से करें।"
उन शिष्यों की यह उत्कट भक्ति-भावना थी,
या पराश्रय की परकाष्ठा ?
निश्चय ही उस युग-गुरु ने इस प्रकार की धर्म-देशना कभी
नहीं दी थी।
वह तो आंखों को खोलने आया था, बंद करने नहीं

× × ×

भक्तों ने कहा—
"तू भी आज सबके साथ उस महात्मा का कुछ मंगल
स्तवन कर।"

करना चाहा भी, पर कुछ बना नहीं।
सबकुछ कुंठित हो गया।
तब स्तवन कैसे होता ?
कुछ था भी, तो उसका कण-कण बिखर गया।

उन संचित कणों को कोई कहना चाहे तो भले ही
स्तवन कहे—

नहीं तो इन उद्‌गारों में ऐसा क्या है
जो उस महात्मा के चरणोंतक पहुंच सकें ?

× × ×

'राष्ट्रपिता' हमारे दुलारे प्रधानमंत्री, वापू के राजनैतिक, व मैं कहूंगा, सांस्कृतिक-उत्तराधिकारी, व्याकुल-मन जवाहरलाल के सजीव व भावपूर्ण विचारों का संग्रह है। जवाहरलाल वापू के विचारों में लड़ाका, परन्तु कदम में साथ चलनेवाले वीर और सच्चे सैनिकों में हैं। वापू के सभी कार्यक्रम, सारी दिनचर्या, व्रत-नियम उतने अपील नहीं करते, जितने उनके बुनियादी सिद्धान्त, उनका आदर्श, यही उनके व वापू के बीच विभाजक रेखा है। किन्तु जवाहरलाल की ख़ूबी यह है कि वह 'सत्य , 'अहिंसा' की दुहाई न देतें हुए भी विल्कुल चींटी तक को मारने से वचते हैं, और गांधीजी के वाद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सभी मामलों में सत्य, न्याय का भरसक पालन करते हैं। वापू के प्रति उनकी भावना अविचल है, जो उन्हींके शब्दों में सुनिये :

"जहां-जहां मैं हिन्दुस्तान के वाहर गया—हर जगह गांधी का नाम पहुंचा था, गांधी की शोहरत पहुंची थी। ग़ैरों के लिए गांधी हिन्दुस्तान था और हिन्दुस्तान गांधी। दुनिया ने तसलीम किया कि एक अजीव ऊंचे दर्जे का आदमी हिन्दुस्तान में पैदा हुआ—फिर अंधेरे में रोशनी आई। जो सवाल लाखों के दिलों में थे और उनको परेशान करते थे, उनके जवाबों की कुछ झलक नज़र आई। आज उस जवाव पर अमल न हो तो कल

होगा, परसों होगा। उस जवाब में और जवाब भी मिलेंगे, और भी अंधेरे में रोशनी पड़ेगी, लेकिन वह बुनियाद पक्की है, और उसी पर इमारत खड़ी होगी।"

इन पुस्तकों की समालोचना के लिए बापू की जीवन-गंगा में गोता लगाने का पुण्य मुझे व पाठकों को प्राप्त हुआ—यह हमारा कितना महान भाग्य!

: २ :

बापू का पत्र-साहित्य

पत्र लेखन एक कला है। गांधीजी इस कला में बहुत निपुण थे। उनके वहुविध पत्रों की संख्या हज़ारों तक पहुंचती है। अकेले मीरावहन, उनकी एक प्रधान यूरोपियन शिष्या, के पास ६०० से ऊपर उनके पत्र हैं। ऐसे सैकड़ों व्यक्ति भारत में तथा बीसियों विदेशों में होंगे, जिन्हें वह समय-समय पर वड़े चाव से पत्र लिखा करते थे। उन्होंने वाइसराय और दूसरे देशों के अन्य राजनीतिज्ञों तथा अन्य उच्च-पदस्थ राजनेताओं से लगाकर भारत के एक साधारण कार्यकर्ता तक को पत्र लिखे हैं। इनमें हर जाति, वर्ग, वय, देश, संस्कृति और धर्म के लोग थे। इन विभिन्न व्यक्तियों में स्तर का भेद होते हुए भी, ऐसा लगता है, मानो सभी लोग उनके एक विशाल परिवार के सदस्य हों और एक कार्यकर्ता के सहयोग की उन्हें उतनी ही आवश्यकता थी, जितनी कि एक वाइसराय अथवा किसी नेता की।

बापू ने अपने चारों तरफ अपने व्यक्तित्व और अपनी विचारधारा से प्रभावित हज़ारों कार्यकर्ताओं तथा मित्रों का जो वातावरण वना रखा था, उसका वहुत कुछ श्रेय उनके पत्र-लेखन को है। उनके दैनिक कार्य का एक वड़ा भाग पत्र लिखने में ही व्यतीत होता था। वह अधिकांश पत्र स्वय अपने हाथ से लिखते थे। इससे यह दूसरों के साथ एक अजीव अपनापन

स्थापित कर लेते थे। इन पत्रों में कृष्ण की लीलाओं की तरह स्वयं वापू के जो विभिन्न रूप प्रकट हुए हैं, तथा उनके पुण्य जीवन के जो पहलू व्यक्त हुए हैं उनका भी अपना एक अलग महत्त्व है। इन पत्रों में वापू ने जीवन के लगभग सभी अंगों को स्पर्श किया है।

वापू के ये पत्र अथाह सागर के समान हैं, जिसमें जहां भी गोता मारिए, मोती हाथ लगेगा। विनोद, गम्भीर उपदेश, नेक सलाह तथा स्वास्थ्य सम्वन्धी निर्देश से भरे हुए इन पत्रों का, जो आजकल उनकी अमूल्य धरोहर वन गए हैं, अपना अलग महत्त्व है। ऐसे पत्रों के कुछ नमूने देखिये :

अन्तर्जातीय विवाह करनेवाले एक धनी परिवार के व्यक्ति को सलाह और सान्त्वना देते हुए वह अपने एक पत्र में लिखते हैं :

"मेरा विश्वास है कि यदि जातिवालों का विरोध आप वरदाश्त कर सकेंगे तो आखिर में फल अच्छा होगा। आसुरी प्रकृति कार्य कर रही है, इसलिए थोड़ी-बहुत अशांति अवश्य रहेगी। उससे डरने की कुछ आवश्यकता नहीं है। प्रयत्न-पूर्वक निग्रह करते रहने से आसुरी प्रकृति का नाश हो सकता है। परन्तु दिल में पूरा विश्वास होना चाहिए कि दैवी प्रकृति को ही सहायता देना हमारा कर्तव्य है। मुझे फ़िक्र आपके पिता और वन्धु के लिए है। यदि वे आपके पक्ष का संगठन कर संग्राम चाहते हैं, और न ला सकें तो आपके ही कुटुम्व में दो विरोधी प्रवृत्ति होने की सम्भावना है। ऐसे मौके पर धर्म-संकट खड़ा होता है। मैं तो अवश्य उनसे भी प्रार्थना करूंगा

कि आपके ही हाथ से जाति में दो गिरोह पैदा न हों।

"जो चीज आपने अच्छी समझ कर की है और जिसकी योग्यता के लिए आज भी आप लोगों के दिल में शंका नहीं है, उसके लिए माफ़ी मांगना मैं हर्गिज उचित नहीं समझूंगा।"

एक पत्र में वह मीराबहन के खत की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों को बताते हुए लिखते हैं :

"तुम्हारा हिन्दी-पत्र बहुत अच्छा लिखा गया है। हस्पताल से 'छोड़ेगा' नहीं, परन्तु 'छूटेगा' चाहिए। 'छोड़ेगा' सकर्मक क्रिया है और इसलिए उसके पहले 'से' विभक्ति नहीं लगती, मगर 'छूटेगा' अकर्मक है, इसलिए उसके पहले 'से' लगता है।"

समय पर पत्र लिखने, डाक में डालने तथा पते पर पहुंचने के बारे में वह कितने सावधान रहते थे, इसके बारे में स्व० महादेव भाई से कहा कि इसे फलां स्टेशन पर डाक में डलवा देना। बापू ने हिसाब लगा लिया था कि उस स्टेशन पर डाले जाने से वह समय पर पहुंच कर पानेवाले की सान्त्वना का कारण बनेगा। परन्तु दुर्भाग्य से महादेव भाई पत्र डालना भूल गए। उन्होंने उसके समय का महत्त्व समझा ही नहीं था। वह नये-नये ही आये थे। इसपर बापू बहुत बिगड़े और आधे घंटे तक महादेव भाई को डांटते रहे और शोक के अवसर पर, ठीक समय पर पत्र के पहुंचने का कितना महत्त्व है, यह बताते रहे।

सरदार पटेल को अपने एक पत्र में अनेक राजनैतिक विषयों पर कितने थोड़े शब्दों में गम्भीर सलाह देते हैं :

"इसके साथ ब्रजकृष्ण का दिल्ली के विवाह के सम्बन्ध में पत्र है। उसे पढ़कर फाड़ डालिए। मैंने साफ लिख दिया है कि पूछे, तो भी मैं इस झगड़े में नहीं पड़ूंगा। रोज़ ऐसी ही खबरें आती रहती हैं। सबको अपनी-अपनी पड़ी है, देश की किसी को नहीं। ऐसी हालत में कैसे किनारे पहुंचेंगे, यह समझ में नहीं आता।"

"बंगाल से मेरे पास भी अणे के विरुद्ध तार आये हैं। मैंने साफ़ लिख दिया है कि उनकी निष्पक्षता के बारे में किसी को शंका नहीं करनी चाहिए। उनपर पूरा भरोसा रखना चाहिए।"

"मालवीयजी ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' पर अवार्ड के बारे में नीति बदलने का हुक्म जारी किया है। इसलिए घनश्यामदास ने त्यागपत्र भेज दिया है। त्यागपत्र में अपना मतभेद प्रकट करनेवाली दलीलें काम में ली हैं। अब देखना है, क्या होता है। पता नहीं, दोनों को क्या सूझी है।"

"राजेन्द्रबाबू के तार पर से ए० पी० को एक समाचार भिजवाया है, जो आप अखबारों में देखेंगे। नकल होगी तो भेज देंगे। ऐसी चीजें आप भी वहां से निकाला करें तो ठीक रहे। मौलाना ने तार से पूछा है कि कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी क्या है? मैंने उन्हें तार दिया है कि इसका उत्तर तो प्रेसीडेन्ट को देना चाहिए। मैं भी कुछ लिखूंगा, मगर आप वल्लभभाई को तार दीजिए, अब तार आये तो देख लें।"

"राजाजी का आज जो पत्र आया है, वह आपके पढ़ने

लायक है। पढ़कर फाड़ डालें। लिखना हो, तो लिखें। मद्रास जाने की शक्ति आ जाये और समय मिले तो हो आइए। प्रफुल्ल घोष आ गए हैं। वह बंगाल की सड़ांध की बात सुना रहे हैं, जो बड़ी दुःखद है।"

एक धनिक विद्यार्थी को गुरु की तरह एक पत्र में उपदेश देते हैं :

१. कम बोलना।

२. सबकी सुनना लेकिन जो ठीक हो वही करना।

३. हर मिनट का हिसाब रखना और जिस क्षण का काम हो उसी क्षण करना।

४. गरीबों के समान रहना। धन का अभिमान कभी मत करना।

५. पाई-पाई का हिसाब रखना।

६. अभ्यास ध्यानपूर्वक करना।

७. इसी प्रकार कसरत करना।

८. मिताहारी रहना।

९. डायरी लिखना।

१०. बुद्धि की तीव्रता की अपेक्षा हृदय का बल करोड़ों गुना कीमती है, अतः उसका विकास करना। उसके विकास के लिए गीता का, तुलसीदास का, मनन आवश्यक है। 'भजनावली, रोज़ पढ़ना। प्रार्थना रोज़ दोनों समय करना।

११. मुझे अपने कार्य के हिसाब का एक पत्र हर हफ़्ते लिखा करेगा तो तेरा कल्याण है।"

स्व० जमनालालजी की धर्मपत्नी, श्रीमती जानकीदेवी से एक पत्र में विनोद करते हैं :

"कितना अभिमान? जेल में हो आई तो अब पत्र ही नहीं लिखोगी? एक जैसे तुम्हीं अकेली जा सकती थी न? तबीयत कैसी है? कमलनयन कहां है? उसको मैंने खत लिखा है। ऐसा मालूम नहीं होता कि वह उसे मिला हो।

"मदालसा तो मानो सो गई हो। शिवाजी तथा राधाकृष्ण के बारे में लिखना। इन सबकी आशा तुमसे रखता हूं। हम तीनों मज़े में हैं।"

आश्रम के कुलगुरु तथा कुटुम्बवत्सल पिता की तरह वह एक पत्र में आश्रम की एक बहन को लिखते हैं :

"तुम्हारा पत्र और हाज़िरी-पत्रक मिल गए। हाज़िरी-पत्रक मुझे भेजती ही रहना। उससे मुझे बहुत-सी बातें जानने को मिलती हैं।

"मणि बहन से काफी समाचार पा सका हूं। भंडार का काम तो निर्विघ्न पूरा करना। आश्रम को हम कुटुम्ब मानते हैं, और उसे कुटुम्ब मानकर सारे देश को, और उसमें से तमाम दुनिया को परिवार समझने का सबक सीखना चाहते हैं। इसलिए जैसे कुटुम्ब की ज़िम्मेदारी मिलजुल कर किसी तरह निभा लेते हैं, उसी तरह भंडार के बारे में करना।

"गो सेवा की या मेरी और किसी बात से तुम्हें डरना नहीं चाहिए। मैं तो जो मुझे सूझता है, सो लिखता रहता हूं, ताकि उसमें से जितना तुम्हें रुचे, तुमसे सहा जाये, उतना तुम प्रसंग के आते ही ग्रहण कर लो।"

एक बार रात को दो बजे बापू पानी पीने के लिए उठे तब उन्हें आश्रम की एक बहन की तबीयत का खयाल आया। वह कुछ दिनों से बीमार थी। उसी समय क्या खाने को देना, किस चीज का परहेज रखना तथा किन-किन दवाइयों का उपयोग करना, इसके बारे में विस्तार से लिखा। उस बहन को जब बापू का वह पत्र मिला तब वह हर्ष से गद्गद् हो गई।

एक बार उन्हें एक बड़े राजनेता ने पत्र लिखा। उन्हें यह ग़लतफ़हमी हो गई थी कि किसी दूसरे साथी ने उनकी चुगली बापू से कर दी है कि वह अबतक शराब पीते हैं। इस पत्र में उन नेता महोदय ने लिखा कि अबतक तो मैंने शराब छुई तक नहीं है, किन्तु अब चूंकि श्री 'क' ने आपसे इस प्रकार कहा है, मैं आज से शराब पीना फिर से आरम्भ कर रहा हूं।

गांधीजी ने इस पत्र के उत्तर में सिर्फ़ एक पोस्टकार्ड भेजा जिसमें पेन्सिल से सिर्फ़ तीन सतरें लिखीं :

"आपके पत्र में रोष है, इसलिए मैं इसका उत्तर नहीं दे रहा हूं।"

बापू का यह पत्र उनकी मौन तेजस्विता के साथ ही ऐसी समस्याओं को कुशलता के साथ हल करने के गुण पर भी प्रकाश डालता है। वह इसमें भी सिद्धहस्त थे।

स्व० जमनालालजी बजाज को लिखे एक पत्र में किस खूबी से गागर में सागर भरा गया है :

"ज्ञान के सम्बन्ध में तार दिया है, सो मिला होगा। कमला के लिए भी आने की ज़रूरत नहीं। कमलनयन आता-जाता

रहता है। जानकीदेवी से भी मिला था। हीरालालजी का उदाहरण सोलह आने है। वह सब मर्यादाएं लांघ गया। उसने यह सब प्रत्यक्ष रीति से तोड़ दीं। मैंने मन से भोगों को भोगा और बाह्येन्द्रियों पर धीरे-धीरे अधिकार प्राप्त किया। यदि मन को भी अन्त में वश में न कर सका होता तो मिथ्याचारी में मेरी गिनती आसानी से होती। परन्तु मुझमें तो जो फेरफार हुए, उनका स्पर्श हीरालाल को कैसे होता? विनोवा, बालकृष्ण और छोटेलाल की तबीयत कैसे रहती है? लक्ष्मीनिवास की पत्नी सुशीला ने पांच हजार रुपये हरिजन-सेवा के लिए दिये, उसका तुमने क्या फैसला किया?

"देवदास, लक्ष्मी रणछोड़दास के बंगले में रहते हैं। राजाजी घनश्यामदास के साथ। मेरी तबीयत ठीक हो रही है। नारणदास का पुरुषोत्तम बहुत करके यहां आयगा। गिरधारी फिर आज गिरफ्तार होगा। कल छूटा था।

"तुम्हारा खानपान आदि ठीक चल रहा होगा। मुझे विस्तार से लिखना।"

८ नवम्बर, १९३२ के एक पत्र में मृत्यु के सम्बन्ध में विचार दर्शाते हुए हमें उत्साहित करते हैं :

"मुझे तो बहुत बार ऐसा लगता है कि जन्म की अपेक्षा मृत्यु अधिक अच्छी चीज होनी चाहिए। जन्म से पहले माता के गर्भ में जो यातना भोगनी पड़ती है, उसे तो मैं छोड़ देता हूं। परन्तु जनमते ही जो यातना शुरू होती है, उसका तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। उस वक्त की पराधीनता कैसी है? और वह तो सबके लिए एक-सी होती है। मृत्यु में यदि जीवन स्वच्छ हो,

तो पराधीनता-जैसी कुछ नहीं रहती। वालक में ज्ञान की इच्छा नहीं होती और न उसमें किसी तरह ज्ञान की संभावना ही होती है। इतना ही नहीं, वल्कि हम जानते हैं कि वहुत लोगों की मृत्यु ऐसी स्थिति में होती है। जन्म के माने तो दुःख में प्रवेश है ही, पर मृत्यु संपूर्ण दुःख-मुक्ति हो सकती है। इस प्रकार मृत्यु के सौंदर्य के विषय में और उसके लाभ के विषय में हम वहुत-कुछ विचार कर सकते हैं और इसे अपने जीवन में संभवनीय वना सकते हैं।"

वापू के तमाम पत्रों का यदि संग्रह हो जाये तो महज़ उन्हीं के आधार पर उनके युग का अच्छा इतिहास लिखा जा सकता है। पत्रों में वह राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, घरेलू, दाम्पतिक आदि सभी समस्याओं को स्पर्श करते थे। मनुष्यता का उत्कर्ष, विश्व-शान्ति, दीन-दलित पीड़ितों का उद्धार, इनपर उनका विशेष जोर रहता था। पत्रों की भाषा सरल, छोटे-छोटे वाक्य, यहां से वहां तक स्नेह, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सुधार की चिन्ता से भरपूर। वापू की स्मृति की तरह उनका यह पत्र-साहित्य भी संसार में युग-युग तक अमर रहेगा।

जून, १९५६

: ३ :

काव्यांजलि

पुण्याह

अन्धकार था, पूर्व पुण्य से, अरुण किरण की कोर दिखी।]
"डरो न, लो मैं आ पहुंचा हूं," यह आशा की रेख लिखी॥
भावी भय से राहु-केतु के उर में लगा द्वेष का दाह।
वन्दी गांधी हुआ, आज है, भारत में जग का पुण्याह॥

गांधीजी के कारावास-दिवस पर
साबरमती
१८ मार्च, १९२३

तू आया!

भूला था जग, सोये थे जन, विस्मृति निद्रा मादक थी।
ज्ञान अन्ध था, तर्क दुष्ट था, हृदय मूढ़ता घातक थी॥
सत्य कैद था, दम्भ मुक्त था, माया की छाई माया।
कर्म सुप्रेरित विश्वविमोहन 'आत्मतेज' ले तू आया॥

धर्म पंगु था, कर्म हीन था, नास्तिकता का था सत्कार।
प्रेम धर्म था हुआ पराजित, पशुवल का था जय जयकार॥
ईश्वर सत्ता का सेवक था, शैतानी वैभव छाया।
प्रेरकता की दी निसर्ग ने 'सत्यशाक्त' ले तू आया॥

प्रकृति क्षुब्ध थी, विकृति मुग्ध थी, संस्कृति की अति दुर्गति थी।
रक्तसिक्त रणचण्डी की चहुं ओर चमकती दुष्कृति थी॥
नर हृदयों ने क्रूर, हिंस्र, भय-भावों को था अपनाया।
नर को नारायण करने हित 'दया-धर्म' ले तू आया॥

पूरब ने गौतम को पाया, पश्चिम ने ईसा देखा।
असुर और शैतान प्रजा ने मूर्तिमान यम को देखा॥
भारत ने अपना उद्धारक जाग्रत जग ने गुरु पाया।
गगन गिरा ने जय जय गाया "तू आया है, तू आया।"

साबरमती
अक्तूबर, १९२३

गांधी

बुद्ध और ईसा का वारिस जगतीतल पर आया है,
उनके यश-गौरव को जग में जिसने और बढ़ाया है।
जगती की एकत्र करुणता, व्याकुलता, पीड़ा की चीख,
नभ को भेद धरा पर लाई, करुणा मानवता की भीख।

जग की सारी करुण-व्यथा है, जिसकी आंखों से बहती,
प्रभु की सारी मंगल गाथा, जिसकी जिह्वा है कहती।
मुट्ठीभर हाड़ों में देखो, कैसा तेज समाया है!
सूरज मानो आसमान से उतर धरणि पर आया है।

हिन्दू का यह आत्म-भाव है, मुसलमान का वान्धव-प्रेम,
ईसाई का दया-धर्म है, जिसके कण-कण का शुभ नेम।

जग की भावी संस्कृति की प्रत्यक्ष मूर्ति यह आई है,
भारत ने जग को अपनी यह अनुपम भेंट चढ़ाई है।

प्रतिपक्षी से भी जो कहता, "मेरा प्रेम तुम्हारे साथ;
तेरे अस्त्र-शस्त्र का उत्तर हैं, ये मेरे खाली हाथ।"
कूटनीति का कर मुंह काला सत्य-नीति का जय जयकार,
जग के आलोचक विस्मित हो, कहते आज पुकार-पुकार।

दावा बुद्धि-शास्त्रियों का था, यह है अनुचित विफल प्रयास,
वही सजीव सफलता बन कर, फैलाता है पुण्य प्रकाश।
शत्रुपक्ष जब दावानल-सा, है करता अति बाण-प्रहार,
तब वह हँस-हँस कर के देता, उसको प्रेम-पुष्प-उपहार।

अजमेर जेल
१९३२

भाग्योदय

क्यों प्रफुल्लित हो रही प्राची दिशा,
सज रही क्यों साज सुवरण भामिनी ?
क्यों उषा उत्कंठिता है देखती,
कनक-आरति-दीप ले करकमल में ?

क्यों विहग-कुल हर्ष से उन्मत्त हो,
हृदय है संगीत से निज खोलते ?
कमल दल क्यों हँस रहे रसमुग्ध हो,
क्यों लताएं गर्व से हैं झूमतीं ?

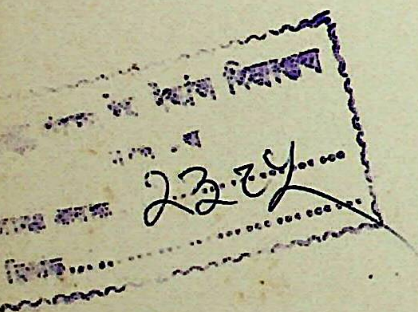
विटप क्यों ये सजंग सिर ऊंचा किये,
टक लगा अवलोकते हैं पूर्व को?
भटकते हैं भृंग क्यों गुंजार कर,
क्यों प्रकृति यह प्रेयसी इठला रही?

झांकता यह कौन क्षितिज-गवाक्ष से,
भर रहा उत्साह दिव्य दिगंत में?
पुण्य पावक गोल-सा निर्धूम यह
कर रहा पावन क्रमिक उत्कर्ष से।

जीव को जीवन, जगत को भास्कर,
भक्त को भगवान, लोचन अंध को?
प्रकृति को उसका गया धन मिल गया,
पूर्व का तो धन्य! भाग्योदय हुआ।







'मंडल' का

जीवनी तथा संस्मरण-साहित्य

१. मेरे समकालीन
२. विनोबा के साथ सात दिन
३. राष्ट्रपिता
४. बापू के आश्रम में
५. स्मरणांजलि
६. मेरे हृदयदेव !
७. साधना के पथ पर
८. मेरे संस्मरण
९. क्रांतिकारी के संस्मरण
१०. अमिट रेखाएं
११. मैं भूल नहीं सकता
१२. मेरी जीवन-यात्रा
१३. काश्मीर पर हमला

